

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182949

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 80.8**
H 66-

Accession No. **P. G.**
H 246

Author

Title **हिन्दी गद्य कुसुमावली . 1956 .**

This book should be returned on or before the date last marked b

हिन्दी गद्य-सुमावली

[हिन्दी के प्रमुख गद्य-लेखकों के चुने हुए निबंधों का संग्रह]

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
बोमी, (बसस्टेण्ड,) हैदराबाद ४.

प्रकाशक
इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड,
हैदराबाद-ब्रांच

१९५६

मूल्य २)

प्रकाशक :

बी० यन० माथुर,
इंडियन प्रेस, (पब्लिकेशंस), प्राइवेट लिमिटेड,
इलाहाबाद ।

मुद्रक :

बेलवेडियर प्रिंटिंग वर्क्स,
इलाहाबाद ।

प्रस्तावना

हिन्दी गद्य-कुसुमावली हिन्दी-गद्य के प्रतिनिधि लेखकों की प्रतिनिधि रचनाओं का लघु-संग्रह है। इसमें एक ओर तो हिन्दी के प्रमुख गद्य-लेखकों तथा दूसरी ओर गद्य-साहित्य के लगभग सभी ऋज्वों जैसे निबन्ध, वर्णन, कहानी, नाटक, आत्मकथा, भाषण आदि को स्थान दिया गया है। ऐसे ही अंश लेने का प्रयत्न किया गया है जो पाठकों को विशेष रुचिकर प्रतीत हों।

इस संकलन द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के विविध रूपों से हम पाठकों—विशेष कर अहिन्दी भाषा-भाषी पाठकों—को परिचित करा सकेंगे, ऐसी आशा है।

हम उन सभी लेखकों के ऋणी हैं जिनकी रचनायें संकलित की गई हैं।

—प्रकाशक
पाठ्य पुस्तक

पाठों का अध्ययन-क्रम

निबन्ध

- आसू : श्री बालकृष्ण भट्ट
धोखा : पं० प्रतापनारायण मिश्र
आत्म-निर्भरता : श्री रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी-साहित्य और मुसलमान कवि : श्री पदुमलाल पुत्रालाल बख्शी
X सूरदास : डॉ० श्यामसुन्दरदास
कवित्व : श्री चतुर्भुज औदीच्य

कहानी

- वज्रपात : मुंशी प्रेमचंद College
उसने कहा था : श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी
तीन बच्चे : श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान
दे खुदा की राह पर : आ० चतुरसेन शास्त्री
ममता : श्री जयशंकर प्रसाद
शरणागत : श्री वृन्दावनलाल वर्मा

आत्मकथा

- दण्डदेव का आत्मनिवेदन : पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

यात्रा

- काश्मीर की सैर : श्रीमती महादेवी वर्मा

नाटक

- दाण्ड्यायन : श्री जयशंकर प्रसाद

व्यंग्यात्मक लेख

- शिवशम्भु : एक चिह्न : श्री बालमुकुन्द गुप्त

(२)

संवाद

X सागर और मेघ : राय कृष्णदास

ऐतिहासिक

X ताज : महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह
महाराणा प्रतापसिंह : श्री गौरीशंकर होराचंद ओझा

संस्मरण

घीसा : श्रीमती महादेवी वर्मा
साइकिल की सवारी : श्री सुदर्शन

भाषण

हमारा विश्वास शान्ति में है : श्री जवाहरलाल नेहरू

— —

विषय-सूची

१—दण्डदेव का आत्मनिवेदन : पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी	१
२—आँसू : पं० बालकृष्ण भट्ट	१४
३—वज्रपात : मुंशी प्रेमचन्द	१९
४—धोखा : पं० प्रतापनारायण मिश्र	३२
५—शिवशम्भु : एक चिट्ठा : श्री बालमुकुन्द गुप्त	३९
६—उसने कहा था : श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी	४२
७—आत्म-निर्भरता : पं० रामचन्द्र शुक्ल	५९
८—तीन बच्चे : श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान	६५
९—हिन्दी-साहित्य और मुसलमान कवि : श्री पदुमलाल पुत्रालाल बख्शी	७७
१०—दे खुदा की राह पर : श्री चतुरसेन शास्त्री	८३
११—सागर और मेघ : राय कृष्णदास	९४
१२—ममता : श्री जयशंकर प्रसाद	९८
१३—ताज : महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह	१०५
१४—महाराणा प्रतापसिंह : डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा	११५
१५—घोसा : श्रीमती महादेवी वर्मा	११८
१६—दाण्ड्यायन : श्री जयशंकर प्रसाद	१३४
१७—सूरदास : डॉ० श्यामसुन्दरदास	१३९
१८—कवित्व : श्री चतुर्भुज औदीच्य	१४६
१९—शरणागत : श्री वृन्दावनलाल वर्मा	१५३
२०—काश्मीर की सैर (यात्रा-वृत्तान्त) : श्रीमती महादेवी वर्मा	१६४
२१—हमारा विश्वास शान्ति में है : श्री जवाहरलाल नेहरू	१७१
२२—साइकिल की सवारी : श्री सुदर्शन	१७७

हिन्दी गद्य-कुसुमावली

१—दण्ड देव का आत्म-निवेदन

श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी

[पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म दौलतपुर जिला रायबरेली में संवत् १६२१ में हुआ था और मृत्यु सं० १६६५ में। 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक होने के नाते उन्हें प्रायः सभी हिन्दी-भाषा-भाषी जानते हैं। 'सरस्वती' में आने से पहले आप जी० आई० पी० रेलवे में हेड क्लर्क थे और काफी वेतन पाते थे। हिन्दी भाषा की सेवा के लिए ही आपने इस पद को छोड़ दिया। सं० १६६० से १६७६ तक आप 'सरस्वती' के सम्पादक रहे। इन बीस वर्षों में 'सरस्वती' की उत्तरोत्तर उन्नति हुई। यद्यपि द्विवेदीजी की रचनाओं में अनुवादों की ही अधिकता है, फिर भी वे निस्सन्देह इस युग के हिन्दी के सबसे बड़े उच्चायक हैं। आपने अपने युग की भाषा को शुद्ध करने का प्रबल प्रयत्न किया था। आपने एक प्रकार से जाति भर के व्याकरण-शिक्षक का काम किया। आप अच्छे कवि भी थे। आपने संस्कृत काव्यों की अच्छी समालोचनाएँ की हैं। नैषधचरितचर्चा, विक्रमाङ्कदेवचरितचर्चा और कालिदास की निरंकुशता ऐसे ही ग्रंथ हैं। आपके ग्रंथों में शिक्षा, बेकन-विचार-रत्नावली, स्वाधीनता, महाभारत आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। साधारणतः आप हिन्दी, उर्दू, अँगरेजी आदि सभी भाषाओं के शब्दों का व्यवहार करते थे। परन्तु शब्द को शुद्ध रूप में लिखते थे तथा वाक्य-रचना विशुद्ध होती थी। उसमें उर्दू या अँगरेजी ढङ्ग कहीं न मिलेगा।]

हमारा नाम दण्ड देव है। पर हमारे जन्मदाता का कुछ भी पता नहीं। कोई कहता है कि हमारे पिता का नाम वंश या बाँस है। कोई कहता है, नहीं, हमारे पूज्यपाद पितृ-महाशय का नाम काष्ठ है। इसमें भी किसी-किसी को मतभेद है; क्योंकि कुछ लोगों का अनुमान है कि हमारे बाप का नाम बेत है। इसी से हम कहते हैं कि हमारे जन्मदाता का नाम निश्चयपूर्वक कोई नहीं बता सकता, हम भी नहीं बता सकते। सबके गर्भधारिणी माता होती है, हमारे वह भी नहीं। हम तो जमीं तोड़ हैं। यदि माता होती तो उससे पिता का नाम पूछ कर आप पर अवश्य प्रकट कर देते। पर क्या करें, मजबूरी है। न बाप, न माँ। अपनी हुलिया यदि हम लिखना चाहें तो कैसे लिखावें। इस कारण सिर्फ अपना ही नाम बता सकते हैं।

हम राजराजेश्वर के हाथ से लेकर दीन दुर्बल भिखारी तक के हाथ में विराजमान रहते हैं। जरा-जीर्णों के तो एकमात्र अवलम्ब हमी हैं। हम इतने समदर्शी हैं कि हममें भेद-ज्ञान जरा भी नहीं—धार्मिक-अधार्मिक, साधु-असाधु काले-गोरे सभी का पाणिग्रहण हम करते हैं। यों तो सभी जगह हम रहते हैं, परन्तु अदालतों और स्कूलों में ता हमारी ही तूत बोलती है। वहाँ हमारा अनवरत आदर हाता है।

संसार में अवतार लेने का हमारा उद्देश्य दुष्ट मनुष्यों और दुर्धृत्त बालकों का शासन करना है। यदि हम अवतार न लेते, तो ये लोग उच्छङ्खन होकर मही-मण्डल में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न कर देते। दुष्ट हमें बुग बताते हैं, हमारी निन्दा करते हैं, हम पर झूठे झूठे आरोप करते हैं परन्तु हम उनकी कटूक्तियों और उनके अभिशापों की जरा भी परवा नहीं करते। बात यह

है कि उनके पथ-प्रदर्शक हमी हैं। यदि हमी उनसे रूठ जायँ तो वे लोग दिन-दहाड़े मार्गभ्रष्ट हुए बिना न रहें।

विलायत के प्रसिद्ध पण्डित जानसन साहब को आप शायद जानते होंगे। ये वही महाशय हैं जिन्होंने एक बहुत बड़ा कोश अंग्रेजी में लिखा है, और विलायती कवियों के जीवन-चरित बड़ी-बड़ी तीन जिल्दों में भरकर चरित-रूपणी त्रिपथगा प्रवाहित की है। एक दफे यही जानसन साहब कुछ भद्र महिलाओं का मधुर और मनोहर व्यवहार देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उस सुन्दर व्यवहार की उत्पत्ति का कारण खोजने पर उन्हें मालूम हुआ कि इन महिलाओं ने अपनी अपनी माताओं के कठिन शासन की कृपा ही से ऐसा भद्रोचित व्यवहार सीखा है। इस पर उनके मुँह से सहसा निकल पड़ा—

“Rod I will honour thee
For this thy duty.”

अर्थात्—“हे दण्ड ! तेरे इस कर्तव्य-पालन का मैं अत्यधिक आदर करता हूँ।”

जानसन साहब की इस उक्ति का मूल्य आप कम न समझिए। सचमुच ही हम बहुत बड़े सम्मान के पात्र हैं, क्योंकि हमी तुम लोगो के—मानव जाति के—भाग्य-विधाता और नियन्ता हैं।

संसार की सृष्टि करते समय परमेश्वर को मानव-हृदय में एक उपदेष्टा के निवास की याजना करनी पड़ी थी। उसका नाम है विवेक। इसी विवेक हा के अनुरोध से मानव-जाति पाप से धरपकड़ करती हुई अज इस उन्नत अवस्था को प्राप्त हुई है। इसी विवेक की प्रेरणा से मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में, हमारी सहायता से, पापियों आर अपराधियों का शासन करते थे। शासन का प्रथम आविष्कृत अस्त्र, दण्ड हमी थे; परन्तु काल-क्रम से हम अब नाना प्रकार के उपयागों आकारों में

परिणत हो गये हैं। हमारी प्रयोग-प्रणाली में भी अब बहुत कुछ उन्नति, सुधार और रूपान्तर हो गया है।

पचास-साठ वर्ष के भीतर इस संसार में बड़ा परिवर्तन, बहुत उथल-पुथल हो गया है। उसके बहुत पहले भी, इस विशाल जगत् में हमारा राजत्व था। उस समय भी रूस में, आजकल ही की तरह, मार-काट जारी थी। पोलैंड में यद्यपि इस समय हमारी कम चाह है, पर उस समय वहाँ की स्त्रियों पर रूसी सिपाही मनमाना अत्याचार करते थे, और बार-बार हमारी सहायता लेते थे। चीन में तब भी वंश-दण्ड का अटल राज्य था। टर्की में तब भी डण्डे चलते थे। श्याम-वासियों की पूजा तब भी लाठी ही से की जाती थी। अफ्रीका से तब भी मम्बो-जम्बो (गैंडे की खाल का हण्टर) अन्तर्हित न हुआ था। उस समय भी वयस्का भद्र महिलाओं पर चाबुक चलता था। पचास-साठ वर्ष पहले संसार में जिस दण्ड-शक्ति का निष्कण्टक साम्राज्य था, यह न समझना कि अब उसका तिरोभाव हो गया है। प्राचीन काल की तरह अब भी सर्वत्र हमारा प्रभाव जागरूक है। इशारे के तौर पर हम जर्मनी के हर प्रान्त में वर्तमान अपनी अखण्ड सत्ता का स्मरण दिलाये देते हैं। परन्तु वर्तमान वृत्तान्त सुनने की अपेक्षा पहले हम अपना पुराना वृत्तान्त सुना देना अच्छा समझते हैं।

प्राचीन काल में रोम-राज्य योरोप की नाक समझा जाता था। दण्ड-दान या दण्ड-विधान में रोम ने कितनी उन्नति की थी, यह बात शायद सब लोग नहीं जानते। उस समय हम तीन भाई थें। रोम वाले साधारण दण्ड के बदले कशा-दण्ड (हण्टर या कोड़े) का उपयोग करते थे। इसी कशा-दण्ड के तारतम्य के अनुसार हमारे भिन्न-भिन्न तीन नाम थे। उनमें से सब से बड़े का नाम फ्लैगेलम (Flagellum), मँझले का सेंटिका

(Sentina) और छोटे का फेरुला (Perula) था। रोम के न्यायालय और वहाँ की महिलाओं के कमरे हम इन्हीं तीनों भाइयों से सुसज्जित रहते थे। अपराधियों पर असीम-क्षमता और प्रभुता थी। अनेक बार प्रभु या प्रभु-पत्नियाँ, दया के वशवर्ती होकर, हमारी सहायता से अपने दासों के दुःखमय जीवन का अन्त कर देती थीं। भोजन के समय, आमन्त्रित लोगों को प्रसन्न करने के लिए, दासों पर कशाघात करने की पूर्ण व्यवस्था थी। दासियों को तो एक प्रकार से नंगी ही रहना पड़ता था। वस्त्राच्छादित रहने से वे शायद कशाघातों का स्वाद अच्छी तरह न ले सकें, इसीलिए ऐसी व्यवस्था थी। यहाँ पर तुम हमारे प्रभाव का कहीं अंत न समझ लेना। दासियों को एक और उपाय से दण्ड दिया जाता था। छत की कड़ियों से उनके लम्बे-लम्बे बाल बाँध दिये जाते थे। छत से लटक जाने पर उनके पैरों से कोई भारी चीज बाँध दी जाती थी, ताकि वे पैर न हिला सकें। यह प्रबन्ध हो चुकने पर उनके अंगों की परीक्षा करने के लिए हमारी योजना होती थी। यह सुनकर शायद तुम्हारा दिल दहल उठा होगा और तुम्हारा बदन काँपने लगा होगा। पर हम तो बड़े ही प्रसन्न थे। दासियों का ही दण्ड दासों को भी दिया जाता था, परन्तु बालों के बदले उनके हाथ बाँधे जाते थे।

इससे तुम समझ गये होंगे कि रोम की महिलाएँ हमारा कितना आदर करती थीं। परन्तु यह बात वहाँ के कर्तृपक्ष को असह्य हो उठी। उन्होंने कहा—‘इस दण्ड-देव का इतना आदर ! उन्होंने हमारी इस उपयोगिता में विघ्न डालने के लिए कई कानून बना डाले। सम्राट् आड्रियन के राजत्व-काल में इस कानून को तोड़ने के अपराध में एक महिला को पाँच वर्ष का देश-निर्वासन-दण्ड मिला था। अस्तु।

अब हम जर्मनी, फ्रांस, रूस, अमेरिका आदि का कुछ हाल सुनाते हैं। ध्यान लगाकर सुनिये। उन सब देशों के घरों, स्कूलों और अदालतों में भी पहले हमारा निश्चय राज्य था। इनके सिवा संस्कार-घरों (Houses of correction) में भी हमारी षोड़शोपचार पूजा होती थी। इन संस्कार-घरों अथवा चरित्र-सुधार-घरों में चरित्र और व्यवहार-विषयक दोषों का सुधार किया जाता था। अभिभावक जन अपनी दुश्चरित्र स्त्रियों, अधीनस्थ पुरुषों को इन घरों में भेज देते थे। वहाँ वे हमारी ही सहायता, हमारे ही आघात, से सुधारे जाते थे।

जर्मनी में तो हम पहले अनेक रूपों में विद्यमान थे। हमारे रूप थे कशादण्ड, वेत्रदण्ड, चर्मदण्ड आदि। कोतवालों और न्यायाधीशों को कशाघात करने के अख्तियारात हासिल थे। संस्कार-घरों में हतभागिनी नारियों ही की संख्या अधिक होती थी। वहाँ बहुधा निरपराधिनी रमणियों को भी, दुष्टों के फन्दे में फँस कर, कशाघात सहने पड़ते थे। पहले वे नंगी कर डाली जाती थीं। उन पर बेत पड़ते थे। जर्मन भाषा के ग्रंथ-साहित्य में उस कशाघात का उल्लेख सैकड़ों जगह पाया जाता है।

फ्रांस में भी हमने मनमाना राज्य किया है। वहाँ के विद्यालयों में किसी समय हमारा बड़ा प्रभाव था। विद्यालयों में कोमल-कलेवरा बालिकाओं को भी हमें चूमना पड़ता था। यहाँ तक कि उन्हें हमारा प्रयोग करनेवालों का अभिवादन भी करना पड़ता था। फ्रांस में तो हमने पवित्रहृदया कामिनियों के कर-कमलों को भी पवित्र किया था। आपको इस बात का विश्वास न हो तो एक प्रमाण लीजिये। “रोमन डि ला रोज़” नामक काव्य में कविवर क्लपिनले ने स्त्रियों के विरुद्ध चार सतरों लिख मारी हैं। उनका भावार्थ कवि पोप के शब्दों में है :—

“Every woman is at heart a rake”

इस उक्ति को सुनकर कुछ सम्माननीय महिलायें बेतरह कुपित हो उठीं। एक दिन उन्होंने कवि को अपने कब्जे में पाकर उसे सुधारना चाहा। तब यह देख कर कि पंजे से निकल भागना असम्भव है, कवि ने कहा—“मैंने जरूर अपराध किया है। अतएव मुझे सजा भोगने में कुछ भी उत्र नहीं। पर मेरी एक प्रार्थना है। वह यह है कि उस उक्ति को पढ़कर जिस महिला को सबसे अधिक बुरा लगा हो वही मुझे पहले दण्ड दे।” इसका फैसला कोई स्त्री न कर सकी। फल यह हुआ कि कवि पिटने से बच गया।

रूस में भी हमारा आधिपत्य रह चुका है। वहाँ तो सभी प्रकार के अपराध करने पर साधारण दण्ड या कशा-दण्ड से प्रायश्चित्त कराया जाता था। क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या राजकर्मचारी, साधारण जन, सभी को अपराध करने पर हमारा अनुग्रह ग्रहण करना पड़ता था। किसान तो हमारी कृपा के सबसे अधिक पात्र थे। उन पर तो जो चाहता था वही, निःशङ्क और निःसङ्कोच, हमारा प्रयोग करता था। हमारा प्रसाद पाकर वे बेचारे चुपचाप चल देते थे और अपना क्रोध अपनी पत्नियों और पशुओं पर प्रकट करते थे। रूस के अमीरों और धनवानों से हमारी बड़ी ही गहरी मित्रता थी। दोषदमन करने में वे सिवा हमारे और किसी की सहायता कभी भूलकर भी न लेते थे। उनका ख्याल था कि अपराधियों को अधमरा करने के लिए ही भगवान् ने हमारी सृष्टि की है।

रूस में तो, पूर्वकाल में, दण्डाघात प्रेम का भी चिह्न माना जाता था। विवाहिता बधुएँ अपने पतियों से हमीं को पाने के लिए सदा लालायित रहती थीं। यदि स्वामी बीच-बीच में अपनी पत्नी का दण्डदान-नामक आदर न करता, तो पत्नी समझती

थी कि उसके स्वामी का प्रेम उस पर कम होता जा रहा है। यह प्रथा केवल नीच या छोटे लोगों ही में प्रचलित न थी, बड़े-बड़े घरों में भी इसका पूरा प्रचार था। वर्कले नाम के लेखक ने लिखा है कि रूस में दण्डाघातों की न्यूनाधिक संख्या ही से प्रेम की न्यूनाधिकता की माप होती थी। इसके सिवा स्नानागारों में भी हमारा प्रबल प्रताप छाया हुआ था। स्नान करनेवालों का समस्त शरीर ही हमारे अनुग्रह का पात्र बनाया जाता था। स्टिफेंस साहब ने इसका विस्तृत विवरण लिख रखा है। विश्वास न हो तो उनकी पुस्तक देख लीजिए।

हमारे सम्बन्ध में तुम अमेरिका को पिछड़ा हुआ कहीं मत समझ बैठना। वहाँ भी हमारा प्रभाव कम न था। बालकों और बालिकाओं का गार्हस्थ्य-जीवन वहाँ हमारे ही द्वारा नियन्त्रित होता था। प्यूरिटन नाम के क्रिश्चियन धर्म-सम्प्रदाय के अनुयायियों के प्रभुत्व के समय लोगों को बात-बात में कशाघात की शरण लेनी पड़ती थी। क्वेकर-सम्प्रदाय को देश से दूर निकालने में अमेरिका के निवासियों ने हमारी खूब ही सहायता की थी। हमारा प्रयोग बड़े ही अच्छे ढङ्ग से किया जाता था। काठ के एक तख्ते पर अपराधी बाँध दिया जाता था, फिर उस पर सड़-सड़ बेत पड़ते थे।

अफ्रीका की तो कुछ पूछिये ही नहीं। वहाँ तो पहले भी हमारा अखंड राज्य था और अब भी है। यही एक देश ऐसा है जिसने हमारे महत्त्व को पूर्णतया पहचान पाया है। बच्चों की शिक्षा से तो हमारा बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ के लोगों का विश्वास था कि हमारा आगमन स्वर्ग से हुआ है और हम ईश्वर के आशीर्वाद-रूप हैं। हम नहीं, तो समझना चाहिए कि परमेश्वर ही रूठा है। मिस्त्रवाले तो इस प्रवाद पर आँख-कान बन्द करके विश्वास करते थे। वहाँ के दीनवत्सल महीपाल

प्रजावर्ग को इस आशीर्वाद का स्वाद बहुधा चखाया करते थे। इस राज्य में बिना हमारी सहायता के राज-कर वसूल होना प्रायः असम्भव था। मिस्र के निवासो राजा का प्राप्य अंश (कर) अदा करना न चाहते थे, इस कारण हमें उन पर सदा ही कृपा करनी पड़ती थी। उनकी पीठ पर हमारे जितने ही अधिक चिह्न बन जाते थे वे अपने को उतने ही अधिक कृतज्ञ या कृतार्थ समझते थे।

अफ्रीका की असभ्य जातियों में स्त्रियों के ऊपर हमारा बड़ा प्रकोप रहता था। ज्योंही स्वामी अपनी स्त्री के सतीत्व-रत्न को जाते देखता था, त्योंही वह हमारी पूर्ण तृप्ति करके उस कुल-कलङ्किनी को घर से निकाल बाहर करता था। कभी-कभी स्त्रियाँ भी हमारी सहायता से अपने-अपने स्वामियों की यथेष्ट खबर लेती थीं। अफ्रीका के पश्चिमी प्रान्तों में यद्यपि बालक-बालिकाओं पर हमारा विशेष प्रभाव न था, तथापि उन्हें हमसे भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तियों का सामना करना पड़ता था। नटखट और दुष्ट लड़कों और लड़कियों की आँखों में लाल मिर्च मल दी जाती थी। वे बेचारे इस योजना का कष्ट सहन करने में असमर्थ होकर छटपटाते और चिल्लाते थे। वयस्कों को तो इससे भी अधिक यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं। वे पहले पेड़ों की डाली से लटका दिये जाते थे। फिर वे खूब पीटे जाते थे। देह लोहू-लोहान हो जाने पर उस पर सर्वत्र लाल मिर्च का चूर्ण मला जाता था। याद रहे, यह सब पुरानी बातें हैं। आजकल की बातें हम नहीं कहते, क्योंकि हमारे प्रयोग में यद्यपि इस समय कुछ परिवर्तन हो गया है, तथापि हमारा कार्य-क्षेत्र घटा नहीं, बढ़ा ही है।

तुम्हारे एशिया-खंड में भी हमारा राज्य दूर-दूर तक फैल रहा है। एशिया कोचक (एशिया माइनर) के यहूदियों में, किसी

समय, हमारी बड़ी धाक थी। वहाँ हमारा प्रताप बहुत ही प्रबल था। ईसाई-धर्म फैलाने में सेन्ट पाल नामक धर्माचार्य ने बड़े-बड़े अत्याचार सहे हैं। वे उनचास दफे कशाहत और तीन दफे दण्डाहत हुए थे। बाइबिल में हमारे प्रयोग का उल्लेख सैकड़ों जगह आया था।

यहूदियों की तरह पारसियों में भी हमारा विशेष आदर था। क्या धनी, क्या निर्धन, सभी को यदा कदा दण्डों की मार सहनी पड़ती थी। यह चाल बहुत समय तक जारी रही। तदनन्तर वह बदल गई। तब माननीय मनुष्यों के शरीर की जगह उनके कपड़ों पर कोड़े लगाये जाने लगे।

चीन में तो हमारा आधिपत्य एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक फैला हुआ था। ऐसा एक भी अपराधी न था जिसे सजा देने में हमारा प्रयोग न होता रहा हो। उच्च राज-कर्मचारियों से लेकर दीन दुखी भिखारियों तक को, अपराध करने पर, हमारे अनुग्रह का अनुभव प्रत्यक्ष रूप से करना पड़ता था। डण्डे की मार खाने में, उस समय, चानी लोग अपना अपमान न समझते थे। हाँ, हमारे कृपा-कटाक्ष से उन्हें जो यन्त्रणा भोगनी पड़ती थी उसे वे जरूर नापसन्द करते थे। बड़े बड़े सेना-नायक और प्रान्त-शासक हमारे कठोर अनुग्रह को प्राप्त करके भी अपने उच्च पदों पर प्रतिष्ठित रहते थे। चीन में अपराधियों ही तक हमारे कोप की सीमा बद्ध न थी। कितने ही निरपराध जन भी हमारे स्पर्श-सुख का अनुभव करके ऐसे गद्गद हो जाते थे कि फिर जगह से उठ तक न सकते थे। हमारी पहुँच बहुत दूर-दूर तक थी। चोरों, डाकुओं और हत्यारों आदि को जब कोतवाल और पुलिस के अन्य प्रतापी अफसर न पकड़ सकते थे, तब वे हमारी शरण आते थे। उस समय हम उन पर ऐसा प्रेम द्रष्टाते थे कि उल्लल-उल्लल कर उनकी देह पर जा पड़ते थे।

चीन की पुरानी अदालतों में जितने अभियुक्त और गवाह आते थे, वे बहुधा बिना हमारा प्रसाद पाये न लौट सकते थे ।

चतुर और चाणान्त चीन के अद्भुत कानून की बात कुछ न पूछिये । यहाँ अपराध के लिए अपराधी ही जिम्मेदार नहीं, उसके दूर तक के सम्बन्धी भी जिम्मेदार समझे जाते थे । जो लोग इस जिम्मेदारी का खयाल न करते थे, उन्हें स्वयं हम पुरस्कार देते थे । चीन में एक सौ परिवारों के पीछे एक मण्डल की स्थापना होती थी । उसकी जिम्मेदारी भी कम न होती । अपने फिरके के सौ कुटुम्बों का यदि कोई व्यक्ति कोई अपराध करता, तो उसके बदले में मण्डल सजा पाता था । देश-सेवा के लिए रक्खे गये शूकर-शावक यदि बीमार या दुबले हो जाते तो प्रति शावक के लिए तत्त्वावधायक पर पचास डण्डे लगते थे ।

चीन की विवाह-विधि में भी हमारी विशेष प्रतिपत्ति थी । पुत्र कन्या की सम्मति लिये बिना ही उनका पहला पाणिग्रहण कराने का अधिकार माता-पिता को प्राप्त था । परन्तु दूसरा विवाह वे न करा सकते थे । यदि वे इस नियम का उल्लंघन करते तो उनपर तड़ातड़ अस्सी डण्डे पड़ते थे । विवाह सम्बन्ध स्थिर करके यदि कन्या का पिता उसका विवाह किसी और वर के साथ कर देता तो उसे भी अस्सी डण्डे खाने पड़ते थे । जो लोग अशौच काल में विवाह कर लेते थे, उनकी पूजा पूरे एक सौ डण्डाघातों से की जाती थी । स्वामी के जीवन-काल ही में जो रमणियाँ सम्राट् द्वारा सम्मानित होतीं वे विधवा होने पर पुनर्विवाह न कर सकती थीं । यदि कोई अभागिनी इस कानून को तोड़ती तो उसे पुरस्कृत करने के लिए हमें सौ बार उसके कोमल कलेवर का चुम्बन करना पड़ता ।

ये हुईं पुरानी बातें । अपना नया हाल सुनाना हमारे लिए, इस छोटे से लेख में, असम्भव है । अब यद्यपि हमारे उपचार

के ढङ्ग बदल गये हैं, और हमारा अधिकार-क्षेत्र कहीं-कहीं संकुचित हो चुका है, तथापि हमारी पहुँच नई-नई जगहों में हो गई है। आजकल हमारा आधिपत्य केनिया, टांस्वाल, केप कालनीज आदि विलायतों में सबसे अधिक है। वहाँ के गोरे कृपक हमारी ही सहायता से हबशी और भारतवर्षी कुलियों से बारह-बारह, सोलह-सोलह घण्टे काम कराते हैं। वहाँ काम करते-करते हमारा प्रसाद पाकर अनेक सौभाग्यशाली कुली, समय के पहले ही, स्वर्ग सिधार जाते हैं। फीजी, जमाइका, गायना, मारिशस आदि टापुओं में भी हम खूब फूल-फल रहे हैं। जीते रहें गन्ने की खेती करानेवाले गौरकाय विदेशी। वे हमारा अत्यधिक आदर करते हैं, कभी अपने हाथ से हमें अलग नहीं करते। उनकी बदौलत ही हम भारतीय कुलियों की पीठ, पेट, हाथ आदि अङ्ग प्रत्यङ्ग छू छू कर कृतार्थ हुआ करते हैं—अथवा कहना चाहिए कि हम नहीं, हमारे स्पर्श से वही अपने को कृतकृत्य मानते हैं। अण्डमन टापू के कैदियों पर भी हम बहुधा जोर-आजमाई करते हैं। × × ×

हम और सब कहीं की बातें तो बता गये, पर इंग्लैण्ड के समाचार हमने एक भी नहीं सुनाये। भूल हो गई। क्षमा कीजिए। खैर, तब न सही अब सही। सूद में अब हम भारतवर्ष का भी कुछ हाल सुना देंगे। सुनिये—

लक्ष्मी और सरस्वती की विशेष कृपा होने से इङ्ग्लैण्ड अब उन्नत और सभ्य हो गया है। ये दोनों ठहरी स्त्रियाँ; और स्त्रियाँ बलवानों ही को अधिक चाहती हैं, निर्बलों को नहीं। तो बलवान् होना बहुत बड़ी बात है। सभ्यता और उन्नति का विशेष आधार पशुबल ही है। हमारी इस उक्ति को सच समझिये और गाँठ में मजबूत बाँधिये। सो सभ्य और समुन्नत होने के कारण इङ्ग्लैण्ड में अब हमारा आदर कम होता जाता

है। तिस पर भी कशादण्ड का प्रचार वहाँ अब भी खूब है। कोड़े वहाँ अब भी खूब बरसते हैं। वहाँ के विद्यालयों में हमारी इस मूर्ति की पूजा बड़े भक्ति-भाव से होती है। हमारा प्रभाव घोड़े की पीठ पर जितना देखा जाता है उतना अन्यत्र नहीं। इसके सिवा सेना में भी हमारा सम्मान अभी तक थोड़ा-बहुत बना हुआ है।

भारतवर्ष में तो हमारा एकाधिपत्य ही सा है। भारत अपाहिज है। इसी लिए भारतवासी हमारी मूर्ति को बड़े आदर से अपनी छाती से लगाये रहते हैं। वे डरते हैं कि ऐसा न हो जो कहीं धन-मान की रक्षा का एक मात्र बचा-खुचा वह साधन भी छिन जाय। इसी से हम पर न उन लोगों का असीम प्रेम है। भारतवासी असभ्य और अनुन्नत होने पर विलासप्रिय कम हैं। इसीलिए वे ऋषियों और मुनियों द्वारा पूजित हम दंड-देव के आश्रय में रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं। शिक्तों का वेत या कमची, सवारों का हण्टर, कोचमैनों का चाबुक, गाड़ीवानों की छड़ी, शुहदों के लट्ट, शौकीन बाबुओं की पहाड़ी लकड़ी, प्लिममैनों के डंडे, बूढ़े बाबा की कुबड़ी, भँगेड़ियों के भवानी-दोन और लठैतों का लाठियाँ आदि सब क्या हैं? ये सब हमारे ही तो रूप हैं। ये सभी शासनकार्य में सहायक होते हैं। भारत में ऐसे हजारों आदमी हैं जिनकी-जीविका के आधार एकमात्र हम हैं। थाना नाम के देव-स्थानों में हमारी ही पूजा होती है। हमारी कृपा और सहायता के बिना हमारे पुजारी (पुलिसमैन) एक दिन भी अपना कर्तव्य पालन नहीं कर सकते। भारत में तो एक भी पहले दर्जे का मैजिस्ट्रेट ऐसा न होगा जिसकी अदालतों के अहाते में हमारी उपयोगी योजना का पूरा-पूरा प्रबन्ध न हो। जेलों में भी हमारी शुश्रूषा सर्वदा हुआ

करती है। इसी से हम कहते हैं कि भारत में तो हमारा एकाधिपत्य है।

बहुत हुआ, हमने अपने अपूर्व, अलौकिक और कौतूहलोद्दीपक चरित का सारांश 'प्रदीप' के पाठकों को सुनाकर उन्हें मुग्ध किया था। उसे बहुत लोग शायद भूल गये हों। इससे उसकी पुनरावृत्ति आज हमें करनी पड़ी। पाठक ! हम नहीं कह सकते कि हमारा यह चारु चरित सुनकर आप भी मुग्ध हुए या नहीं। कुछ भी हो, हमने अपना कर्तव्य कर दिया। आप प्रसन्न हों या न हों, पर इससे हम कितने प्रसन्न हैं, यह हम लिख नहीं सकते।

२—आँसू

श्री बालकृष्ण भट्ट

[पं० बालकृष्ण भट्ट का जन्म संवत् १९०१ में, प्रयाग में हुआ था और मृत्यु सं० १९७१ में। पहले इन्हें घर पर संस्कृत की शिक्षा मिली। फिर ये मिशन स्कूल में अँगरेजी पढ़ने लगे। पादरी हेडमास्टर से वाद-विवाद हो जाने पर आपने स्कूल छोड़ दिया और फिर संस्कृत पढ़ने लगे। इस बीच में ये जमुना मिशन स्कूल में अध्यापक हो गये। पर वहाँ भी अपनी धर्मनिष्ठा के कारण न निभो। नाकरी छोड़कर इन्होंने व्यापार में हाथ लगाया; पर वह भी इनकी प्रकृति के अनुकूल न निकला। अतएव ये साहित्य-सवा में अपना सारा समय लगाने लगे और थाइ ही समय में प्रसिद्ध लेखक हो गये। इस बीच में ये संस्कृत का गहन अध्ययन भी करते रहे। इसी समय प्रयाग में हिन्दी-प्रवाचन सभा की स्थापना हुई जिसने

‘हिन्दी-प्रदीप’ मासिक पत्र निकालना शुरू किया। पं० बालकृष्ण भट्ट इस पत्र के सम्पादक बनाये गये। इन्हीं दिनों प्रेस-ऐक्ट पास हुआ और लोगों ने ‘प्रदीप’ से नाता तोड़ दिया, पर वे बराबर कई वर्ष तक उसे चलाते रहे। पीछे आप कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक हो गये। आपके लेखों का संग्रह ‘साहित्य-सुमन’ के नाम से प्रकाशित हुआ है। रेल का विकट खेल, बालविवाह नाटक, सौ अज्ञान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी आदि कई अच्छे ग्रंथ इन्होंने लिखे हैं। आप साधारण विषयों पर भी सुंदर लेख लिखते थे जैसे कान, नाक, आँख आदि। बातचीत भी एक ऐसा ही विषय है जो आपके सम्मुख है। भाषा में हृदयता, सरसता और भावुकता है। पाठक के हृदय में अपनापा भर देते हैं। अंगरेजी के साधारण शब्दों का प्रयोग कर भावों को स्पष्ट करते हैं। मुहावरों के साथ उर्दू के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करके अपनी शैली में पर्याप्त सरसता भर देते थे। एक प्रकार का व्यङ्ग्य एवं कटाक्ष का आभास मिलता है जिसका अनुभव पाठक सरलता से कर लेता है।]

मनुष्य के शरीर में आँसू भी गड़े हुए खजाने के माफिक है। जैसे कभी कोई नाजुक वक्त आ पड़ने पर संचित पूँजी ही काम देती है, उसी तरह हर्ष, शाक, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रकट करने में जब सब इन्द्रियाँ स्थगित होकर हार मान बैठती हैं तब आँसू ही उन-उन भावों को प्रकट करने में सहायक हात है। चिरकाल के वियोग के उपरांत जब किसी दिली दास्त से मुलाकात होती है, तो उस समय हर्ष और प्रेम-भाव के उफान में अङ्ग अङ्ग ढीले पड़ जाते हैं, वाष्प-गद्गद कंठ रुंध जाता है, जिह्वा इतनी शिथिल पड़ जाती है कि उससे मिलने की खुशी को प्रकट करने के लिए एक-एक शब्द मनो बोझ-सा मालूम पड़ता है। पहले इसके कि शब्दों से वह अपना असाम आनन्द प्रकट करे, सहसा आँसू की नदी उसकी आँखों में उमड़ आती है, आर-

नेत्र के पवित्र जल से वह अपने प्राणप्रिय को नहलाता हुआ उसे बगलगीर करने को हाथ फैलाता है। सच्चे भक्त और उपासक की कसौटी भी इसी से हो सकती है। अपने उपास्य देव के नाम-संकीर्तन में जिसे अश्रुपात न हुआ, मूर्ति का दर्शन कर प्रेमाश्रुपात से जिसने उसके चरण-कमलों का अभिषेक न किया, उस दाम्भिक को भक्ति के आभास मात्र से क्या फल ? सरल कोमल चित्त वाले अपने मनोगत सुख-दुःख के भाव छिपाने की हजार हजार चेष्टा करते हैं कि दूसरा कोई इनके चित्त की गहराई को न थहा सके, पर अश्रुपात भाव-गोपन की सब चेष्टा को व्यर्थ कर देता है। मोती-सी आँसू की बूँदें जिस समय सहसा नेत्र से भरने लगती हैं, उस समय उन्हें रोक लेना बड़े-बड़े गम्भीर प्रकृतिवालों की भी शक्ति के बाहर होता है। भवभूति ने, जिनको प्रकृति का चित्र अपनी कविता में खींच देना खूब मालूम था, कई ठौर पर अश्रुपात का बहुत उत्तम वर्णन किया है, जिससे यही आशय निकलता है—

“यदि सृष्टिकर्ता अत्यन्त शोक में अश्रुपात को प्राकृतिक न कर देता, तो वज्रपात-सम दारुण दुःख के वेग को कौन संभाल सकता ?”

इसी भावार्थ का पोषक भवभूति का नीचे का यह कथन भी बहुत उत्तम है—

“बरसात में तालाब जब लबालब भर जाता है, तो बाँध तोड़ उसका पानी बाहर निकाल देना ही सुगम उपाय बचाव का होता है। इसी तरह अत्यन्त शोक से क्षोभित तथा व्याकुल मनुष्य का अश्रुपात ही हृदय को विदीर्ण होने से बचा लेने का उपाय है।”

बल्कि ऐसे समय रोना ही राहत है। × × ×

कोई शूरवीर, जिसको रणचर्चा-मात्र सुन जोश आ जाता

है, और लड़ाई में गोली तथा बाण की वर्षा को फूल की वर्षा मानता है, वीरता के उमङ्ग में भरा हुआ युद्ध-यात्रा के लिए प्रस्थान करने को तैयार है, विदाई के समय विलाप करते हुए अपने कुनबावालों के आँसू के एक-एक बूँद की क्या कीमत है, यह वही जान सकता है। वह शशोपंज में पड़ आगे को पाँव रख फिर हँस लेता है। वीर और करुणा ये दो विरोधी रस अपनी-अपनी ओर से उमड़ उमड़ देर तक उसे किंकर्तव्यमूढ़ किये रहते हैं। आँख में आँसू उन्हीं अकुटिल सीधे सत्पुरुषों के आता है जिनके सच्चे सरल चित्त में कष्ट और कुटिलाई ने स्थान नहीं पाया है। निठुर, निर्दयी, मक्कार की आँखें, जिसके कट्टर कलेजे ने कभी पिघलना जाना नहीं, दुनिया के दुःख पर क्यों पसीजेंगी? प्रकृति ने चित्त का आँख के साथ कुछ ऐसा सीधा सम्बन्ध रख दिया है कि आँखें चित्त की वृत्तियों को चट पहचान लेती हैं और तत्काल तदाकार अपने को प्रकट करने में देर नहीं करतीं, तो यह निश्चय हुआ कि जो बेकलेजे हैं, उनकी बैल सी बड़ी-बड़ी आँखें केवल देखने ही को हैं, चित्त की प्रवृत्तियों का उनपर कभी असर होता ही नहीं। चित्त के साथ आँख के सीधे सम्बन्ध को बिहारी कवि ने कई दोहों में प्रकट किया है। यथा—

“कोटि जतन कीजै तऊ, नागरि नेह दुरै न;
कहे देत चित चीकनो, नई रुखाई नैन।
दहैं निगोड़े नैन ये, गहैं न चेत-अचेत;
हौं कसि कै रिस को करौं, ये निरखत हँसि देत।”

मृतक के लिए लोग हजारों-लाखों खर्च कर आलीशान रौजे, मकबरे, कब्रें संगमरमर या संगमूसा की बनवा देते हैं; कीमती पत्थर मानिक, जमुर्द से उन्हें आरास्ता करते हैं; पर वे मकबरे क्या उसकी रूह को उतनी राहत पहुँचा सकते हैं जितनी उसके दोस्त के आँसू के कतरे टपका कर पहुँचाते हैं।

इस आँसू में भी भेद है। कितनों का पनीला कपार होता है, बात करते रो देते हैं। अक्षर उनके मुख से पीछे निकलेगा, आँसुओं की झड़ी पहिले ही शुरू हो जायगी। स्त्रियों के जो बहुत आँसू निकलता है, मानों रोना उनके पास गिरा रहता है। इसका कारण यही है कि वे नाम ही की अबला और अधीर हैं। दुःख के वेग में आँसू को रोकने वाला केवल धारज है। उसका टोटा यहाँ हरदम रहता है। तब इनके आँसू का क्या ठिकाना ! सत्वशाली धीरजवालों को आँसू कभी आता ही नहीं। कड़ा-से-कड़ी मुसीबत में दो-चार कतरे आँसू के मानों बड़ी बरकत हैं। बहुत मौकों पर आँसू ने गजब कर दिया है। सिकंदर का कौल था कि मेरी माँ की आँख के एक कतरा आँसू की कीमत में बादशाहत से भी बढ़कर मानता हूँ। रेणुका के अश्रुपात ही ने परशुराम से इक्कीस बार जूत्रियों का संहार कराया था।

कितने ऐसे लोग भी हैं जिन्हें आँसू नहीं आता। इसलिए जहाँ पर बड़ी जरूरत आँसू गिराने की हो, उसके लिए प्याज का गट्टा पास रखना बड़ी सहज तरकीब निकाली गई। प्याज जरा-सा आँख में छू जाने से आँसू गिरने लगता है।

“किसी को बैंगन बावले, किसी को बैंगन पत्थ।”

बहुधा आँसू का गिरना भलाई और तारीफ में दाखिल है। हमारे लिए आँसू बड़ी बला है। नजले का जार है, दिन-रात आँखों से आँसू टपकता है। ज्यों-ज्यों आँसू गिरता है, त्यों-त्यों बीनाई कम होती जाती है। सैकड़ों तद्बीरों कर चुके, आँसू का टपकना बन्द न हुआ। क्या जानें, बंगाल की खाड़ी वाला समुद्र तो हमारे ही कपार में आकर भर रहा है। आँख से तो आँसू चला ही करता है, आज हमने खेल में आँसू ही पर कलम चला दी। पढ़नेवाले इसे निरी नहूसत की अलामत न मान हमें क्षमा करेंगे।

३—वज्रपात

मुंशी प्रेमचंद

[बाबू प्रेमचंद का जन्म संवत् १९३७ में एक प्रतिष्ठित कायस्थ-वराने में हुआ था और मृत्यु सं० १९६३ में हुई। इनका पहला नाम धनपतराय था। इन्होंने बी० ए० तक शिक्षा पाई थी। ये किसी नार्मल स्कूल में मास्टर थे। पहले ये उर्दू में लेख लिखा करते थे। उर्दू साहित्य में इनका बड़ा भारी नाम है। बाद को इनका ध्यान हिंदी की ओर आकृष्ट हुआ और जब हिंदी में लिखने लगे तो यहाँ भी खलबली मचा दी। इनकी छोटी कहानियों में कला का पूर्ण कौशल प्रकट होता है। सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि आदि कई उपन्यास इन्होंने लिखे हैं जिनमें इनकी घटना निर्माण-कला-पटुता दिखाई देती है। इनकी भाषा सरल और चलती हुई है। नागरिक और ग्राम्य, राजनीतिक और सामाजिक, भीतरी और बाहरी सभी प्रकार के जीवन का इन्होंने बड़ी निपुणता के साथ चित्रण किया है। इन्होंने कुछ दिनों तक 'मर्यादा' का संपादन किया था। ये 'माधुरी' के संपादक-मंडल में भी थे। आपकी भाषा सरल एवं सरस है। आप उर्दू हिंदी में भेद-भाव न रखकर उपयुक्त भाषा एवं शैली का प्रयोग करते थे। मुहावरों का प्रयोग आपकी शैली में चमत्कार उत्पन्न कर देता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत कहानी पर्याप्त है।]

(१)

दिल्ली की गलियाँ दिल्ली-निवासियों के रुधिर से प्लावित हो रही हैं। नादिरशाह की सेना ने सारे नगर में आतंक जमा रखा है। जो कोई सामने आ जाता है, उसे उनकी तलवार के घाट उतरना पड़ता है। नादिरशाह का प्रचंड क्रोध किसी भाँति शांत ही नहीं होता। रक्त की वर्षा भी उसके काप की आग को बुझा नहीं सकती।

नादिरशाह दरबार-आम में तख्त पर बैठा हुआ है। उसकी आँखों से जैसे ज्वालाएँ निकल रही हैं। दिल्लीवालों की इतनी हिम्मत कि उसके सिपाहियों का अपमान करें ! उन कापुरुषों की यह मजाल ! यही काफिर तो उसकी सेना की एक ललकार पर रण-क्षेत्र से निकल भागे थे। नगर-निवासियों का आर्तनाद सुन सुनकर स्वयं सेना के दिल काँप जाते हैं; मगर नादिरशाह की क्रोधाग्नि शांत नहीं होती। यहाँ तक कि उसका सेनापति भी उसके सम्मुख जाने का साहस नहीं कर सकता। वीर पुरुष दयालु होते हैं। असहायों पर, दुर्बलों पर, स्त्रियों पर उन्हें क्रोध नहीं आता। इन पर क्रोध करना वे अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। किंतु निष्ठुर नादिरशाह की वीरता दया-शून्य थी।

दिल्ली का बादशाह सिर झुकाये नादिरशाह के पास बैठा हुआ था। हरमसरा में विलास करनेवाला बादशाह नादिरशाह की अविनयपूर्ण बातें सुन रहा था; पर मजाल न थी कि जबान खोल सके। उसे अपनी ही जान के लाले पड़े थे, पीड़ित प्रजा की रक्षा कौन करे ? वह सोचता था, मेरे मुँह से कुछ निकले, और यह मुझी को डाट बैठे, तो ?

अंत को जब सेना की पैशाचिक क्रूरता पराकाष्ठा को पहुँच गई, मुहम्मदशाह के वजीर से न रहा गया। वह कविता का मर्मज्ञ था, खुद भी कवि था। जान पर खेलकर नादिरशाह के सामने पहुँचा, और उसने यह शेर पढ़ा—

कसे न माँद कि दीगर व तेगे नाज कुशी ;

मगर कि जिन्दा कुनी खल्क रा व बाज कुशी ।

अर्थात् तेरी निगाहों की तलवार से कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दों को फिर जिलाकर कत्ल कर।

शेर ने दिल पर चोट की। पत्थर में भी सूराख होते हैं; पहाड़ों में भी हरियाली होती है, पाषाण-हृदयों में भी रस होता

है। इस शेर ने पत्थर को पिघला दिया। नादिरशाह ने सेनापति को बुलाकर कत्लआम बंद करने का हुक्म दिया। एकदम तलवारें म्यान में चली गईं। कातिलों के उठे हुए हाथ उठे ही रह गए। जो सिपाही जहाँ था, वहीं बुत बन गया।

शाम हो गई थी। नादिरशाह शाही बाग में सैर कर रहा था। बार बार वही शेर पड़ता और भूमता था—

कसे न माँद कि दीगर व तेगे नाज कुशी;

मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा व बाज कुशी।

(२)

दिल्ली का खजाना लुट रहा है। शाही महल पर पहरा है, कोई अंदर से बाहर, या बाहर से अंदर आ जा नहीं सकता। बेगमें भी अपने महलों से बाहर बाग में निकलने की हिम्मत नहीं कर सकतीं। महज खजाने पर ही आफत नहीं आई हुई है, सोने-चाँदी के बरतनों, बेशकीमती तसवीरों और आराइश की अन्य सामग्रियों पर भी हाथ साफ किया जा रहा है। नादिरशाह तख्त पर बैठा हुआ हीरे और जवाहिरात के ढेरों को गौर से देख रहा है; पर वह चीज नजर नहीं आती, जिसके लिए मुद्दत से उसका चित्त लालायित हो रहा था। उसने मुगल-आजम नाम के हीरे की प्रशंसा, उसकी करामातों की चर्चा सुनी थी—उसको धारण करनेवाला मनुष्य दीर्घजीवी होता है, कोई रोग उसके निकट नहीं आता, उस रत्न में पुत्रदायिनी शक्ति है, इत्यादि। दिल्ली पर आक्रमण करने के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ इस रत्न को प्राप्त करना भी एक कारण था। सोने-चाँदी के ढेरों और बहुमूल्य रत्नों की चमक-दमक से उसकी आँखें भले ही चौंधिया जायँ पर हृदय उल्लसित न होता था। उसे तो मुगल-आजम की धुन थी, और मुगल-आजम का वहाँ

कहीं पता न था। वह क्रोध से उन्मत्त हो होकर शाही मंत्रियों की ओर देखता और अपने अफसरों को भिड़कियाँ देता था, पर अपना अभिप्राय खोलकर न कह सकता था। किसी की समझ में न आता था कि वह इतना आतुर क्यों हो रहा है। यह तो खुशी से फूले न समाने का अवसर है। अतुल संपत्ति सामने पड़ी हुई है, संख्या में इतनी सामर्थ्य नहीं कि उसकी गणना कर सके। संसार का कोई भी महीपति इस विपुल धन का एक अंश भी पाकर अपने को भाग्यशाली समझता, परन्तु यह पुरुष जिसने इस धनराशि का शतांश भी पहले कभी आँखों से न देखा होगा, जिसकी उम्र भेड़ों चराने में ही गुजरी, क्यों इतना उदासीन है? आखिर जब रात हुई, बादशाह का खजाना खाली हो गया, और उस रत्न के दर्शन न हुए तो नादिरशाह की क्रोधाग्नि फिर भड़क उठी। उसने बादशाह के मंत्री को—उसी मंत्री को, जिसकी काव्य-मर्मज्ञता ने प्रजा के प्राण बचाए थे, एकांत में बुलाया और कहा—मेरा गुस्सा तुम देख चुके हो। अगर फिर उसे नहीं देखना चाहते, तो लाजिम है कि मेरे साथ कामिल सफाई का बर्ताव करो। वरना अगर दोबारा यह शोला भड़का तो दिल्ली की खैरियत नहीं।

वजीर—जहाँपनाह, गुलामों से तो कोई खता सरजद नहीं हुई। खजाने की सब कुंजियाँ जनाबेआली के सिपहसालार के हवाले कर दी गई हैं।

नादिर—तुमने मेरे साथ दगा की है।

वजीर—(त्योरी चढ़ाकर) आपके हाथ में तलवार है, और हम कमजोर हैं, जो चाहें फरमावें, पर इस इलजाम के तसलीम करने में मुझे उज्र है।

नादिर—क्या उसके सबूत की जरूरत है ?

वजीर—जी हाँ, क्योंकि दगा की सजा कत्ल है, और कोई बिला सबब अपने कत्ल पर रजामंद न होगा।

नादिर—इसका सबूत मेरे पास है, हालाँ कि नादिर ने कभी किसी को सबूत नहीं दिया। वह अपनी मरजी का बादशाह है, और किसी को सबूत देना अपनी शान के खिलाफ समझता है। पर यहाँ पर जाती मुआमला है। तुमने मुगल-आजम हीरा क्यों छिपा दिया ?

वजीर के चेहरे का रंग उड़ गया। वह सोचने लगा—यह हीरा बादशाह को जान से भी ज्यादा अजीज है। वह इसे एक क्षण भी अपने पास से जुदा नहीं करते। उनसे क्योंकर कहूँ ? उन्हें कितना सदमा होगा। मुल्क गया, खजाना गया, इज्जत गई, बादशाही की यही एक निशानी उनके पास रह गई है। उनसे कैसे कहूँ ? मुमकिन है, वह गुस्से में आकर इसे कहीं फेंक दें, या तुड़वा डालें। इनसान की आदत है कि वह अपनी चीज दुश्मन को देने की अपेक्षा उसे नष्ट कर देना अच्छा समझता है। बादशाह बादशाह है। मुल्क न सही, अधिकार न सही, सेना न सही, पर जिन्दगी भर की स्वेच्छाचारिता एक दिन में नहीं मिट सकती। यदि नादिर को हीरा न मिला, तो वह न जाने दिल्ली पर क्या सितम ढावे। आह ! उसकी कल्पना ही से रोमांच हो जाता है। खुदा न करे, दिल्ली को फिर यह दिन देखना पड़े।

सहसा नादिर ने यह पूछा—मैं तुम्हारे जवाब का मुंतजिर हूँ। क्या यह तुम्हारी दगा का काफी सबूत नहीं है ?

वजीर—जहाँपनाह, वह हीरा बादशाह सलामत को जान से ज्यादा अजीज है। वह उसे हमेशा अपने पास रखते हैं।

नादिर—भूठ मत बोलो। हीरा बादशाह के लिये है, बादशाह हीरे के लिए नहीं। बादशाह को हीरा जान से ज्यादा अजीज है—का मतलब सिर्फ इतना है कि वह बादशाह को

बहुत अजीज है, और यह कोई वजह नहीं कि मैं उस हीरे को उनसे न लूँ। अगर बादशाह यों न देंगे, तो मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना होगा, तुम जाकर इस मुआमले में उसी नाजुकफहमी से काम लो, जो तुमने कल दिखाई थी। आह, कितना लाजवाब शेर था---

कसे न माँद कि दीगर ब तेगे नाज कुशी;
मगर कि जिंदा कुनी खल्क रा व बांज कुशी।

(३)

मंत्री सोचता हुआ चला कि यह समस्या क्योंकर हल करूँ। बादशाह के दीवानखाने में पहुँचा, तो देखा, बादशाह उसी हीरे को हाथ में लिये चिंता में मग्न बैठे हुए हैं।

बादशाह को इस वक्त उसी हीरे की फिक्र थी। लुटे हुए पथिक की भाँति वह अपनी यह लकड़ी हाथ से न देना चाहता था। वह जानता था कि नादिर को इस हीरे की खबर है। वह यह भी जानता था कि खजाने में इसे न पाकर उसके क्रोध की सीमा न रहेगी। लेकिन, सब कुछ जानते हुए भी, वह हीरे को हाथ से न जाने देना चाहता था। अंत को उसने निश्चय किया, मैं इसे न दूँगा, चाहे मेरी जान ही पर क्यों न बन जाय। रोगी की इस अंतिम साँस को न निकलने दूँगा। हाय, कहाँ छिपाऊँ? इतना बड़ा मकान है कि उसमें एक नगर समा सकता है; पर इस नन्हीं सी चीज के लिए कहीं जगह नहीं, जैसे किसी अभागे को इतनी बड़ी दुनिया में भी कहीं पनाह नहीं मिलती। किसी स्वरक्षित स्थान में न रखकर क्यों न इसे किसी ऐसी जगह रख दूँ, जहाँ किसी का ख्याल ही न पहुँचे। कौन अनुमान कर सकता है कि मैंने हीरे को अपनी सुराही में रखा होगा? अच्छा,

हुक्के की फर्शी में क्यों न डाल दूँ ? फरिश्तों को भी खबर न होगी ।

यह निश्चय करके उसने हीरे को फर्शी में डाल दिया । पर तुरंत ही उसे शंका हुई कि ऐसे बहुमूल्य रत्न को इस जगह रखना उचित नहीं । कौन जाने जालिम को मेरी यह गुड़गुड़ी ही पसंद आ जाय । उसने तुरंत गुड़गुड़ी का पानी तश्तरी में उंडेल दिया, और हीरे को निकाल लिया । पानी की दुर्गंध उड़ी; पर इतनी हिम्मत न पड़ती थी कि खिदमतगार को बुलाकर पानी फेंकवा दे । भय होता था, कहीं वह ताड़ न जाय ।

वह इसी दुविधा में पड़ा हुआ था कि मंत्री ने आकर बंदगी की । बादशाह को उस पर पूरा विश्वास था; किंतु उसे अपनी लुद्रता पर इतनी लज्जा आई कि वह इस रहस्य को उस पर भी न प्रकट कर सका । गुमशुम होकर उसकी ओर ताकने लगा ।

मंत्री ने बात छेड़ी—आज खजाने में हीरा न मिला, तो नादिर बहुत भ्रष्टाचार । कहने लगा—तुमने मेरे साथ दगा की है; मैं शहर लुटवा लूँगा, कल्ल-आम कर दूँगा, सारे शहर को खाकसियाह कर डालूँगा । मैंने कहा—जनावेआली को अख्तियार है, जो चाहें, करें । पर हमने खजाने की सब कुंजियाँ आपके सिपहसालार को दे दी हैं । वह कुछ साफ साफ तो कहता न था, बस कनायों में बातें कर रहा था, और भूखे गीदड़ की तरह इधर-उधर बौखलाया फिरता था कि किसे पावे, और नोच खाय ।

मुहम्मदशाह—मुझे तो उसके सामने बैठते हुए ऐसा खौफ मालूम होता है, गोया किसी शेर का सामना हो । जालिम की आँखें कितनी तुंद और गजबनाक हैं । आदमी क्या है, शैतान है । खैर, मैं भी उसी उधेड़बुन में पड़ा हुआ हूँ कि इसे क्योंकर छिपाऊँ । सलतनत जाय, गम नहीं; पर इस हीरे को मैं उस वक्त

तक न दूँगा, जब तक कोई मेरी गरदन पर सवार होकर इसे छीन न ले।

वजीर—खुदा न करे कि हुजूर के दुश्मनों को यह जिल्लत उठानी पड़े। मैं एक तरकीब बतलाऊँ। हुजूर इसे अपने अमामे (पगड़ी) में रख लें। वहाँ तक उसके फरिश्तों का भी खयाल न पहुँचेगा।

मुहम्मदशाह—(उल्लसकर) वल्लाह, तुमने खूब सोचा, वाकई तुम्हें खूब सूझी। हजरत इधर-उधर टटोलने के बाद अपना सा मुँह लेकर रह जायँगे। मेरे अमामे को कौन देखेगा? इसी से तो मैंने तुम्हें लुकमान का खिताब दिया है। बस, यही तय रहा। कहीं तुम जरा देर पहले आ जाते तो मुझे इतना दर्द-सर न उठाना पड़ता।

(४)

दूसरे ही दिन दोनों बादशाहों में सुलह हो गई। वजीर नादिरशाह के कदमों पर गिर पड़ा, और अर्ज की—अब इस डूबती हुई किशती को आप ही पार लगा सकते हैं; वरना इसका अल्लाह ही बेली है। हिंदुओं ने सिर उठाना शुरू कर दिया है; मरहटे, राजपूत, सिख सभी अपनी अपनी ताकतों को मुकम्मिल कर रहे हैं। जिस दिन उनमें मेल-मिलाप हुआ, उसी दिन यह नाव भँवर में पड़ जायगी, और दो-चार चक्कर खाकर हमेशा के लिए नीचे बैठ जायगी।

नादिरशाह को ईरान से चले अरसा हो गया था। वहाँ से रोजाना बागियों की बगावत की खबर आ रही थी। नादिरशाह जल्द वहाँ लौट जाना चाहता था। इस समय उसे दिल्ली में अपनी सल्तनत कायम करने का अवकाश न था। सुलह पर

राजी हो गया। संधि-पत्र पर दोनों बादशाहों ने हस्ताक्षर कर दिए।

दोनों बादशाहों ने एक ही साथ नमाज पढ़ी, एक ही दस्तरख्वान पर खाना खाया, एक ही हुक्का पिया, और एक दूसरे से गले मिलकर अपने अपने स्थान को चले।

मुहम्मदशाह खुश था। राज्य बच जाने की उतनी खुशी न थी, जितना हीरे के बच जाने की।

मगर नादिरशाह हीरा न पाकर भी दुखी न था। सबसे हँस हँसकर बातें करता था। मानो शील और विनय का साक्षात् अवतार है।

(५)

प्रातःकाल है; दिल्ली में नौबतें भड़ रही हैं। खुशी की महफिलें सजाई जा रही हैं। तीन दिन पहले यहाँ रक्त की नदी बही थी। आज आनंद की लहरें उठ रही हैं। आज नादिरशाह दिल्ली से रुखसत हो रहा है।

अशर्फियों से लदे हुए ऊँटों की कतार शाही महल के सामने रवाना होने को तैयार खड़ी है। बहुमूल्य वस्तुएँ गाड़ियों में लदी हुई हैं। दोनों तरफ की फौजें गले मिल रही हैं। अभी कल दोनों पक्ष एक दूसरे के खून के प्यासे थे। आज भाई भाई हो रहे हैं।

नादिरशाह तख्त पर बैठा हुआ है। मुहम्मदशाह भी उसी तख्त पर उसकी बगल में बैठे हुए हैं। यहाँ भी परस्पर प्रेम का व्यवहार है। नादिरशाह ने मुसकुराकर कहा—खुदा करे, यह सुलह हमेशा कायम रहे और लोगों के दिलों से इन खूनी दिनों की याद मिट जाय।

मुहम्मदशाह—मेरी तरफ से ऐसी कोई बात न होगी जो

सुलह को खतरे में डाले। मैं खुदा से यह दोस्ती कायम रखने के लिए हमेशा दुआ करता रहूँगा।

नादिरशाह—सुलह की जितनी शर्तें थीं, सब पूरी हो चुकीं। सिर्फ एक बात बाकी है। मेरे यहाँ दस्तूर है कि सुलह के वक्त अमामे बदल लिए जाते हैं। इसके बगैर सुलह की कार्रवाई पूरी नहीं होती। आइए हम लोग भी अपने अपने अमामे बदल लें। लीजिए, यह मेरा अमामा हाजिर है।

यह कहकर नादिर ने अपना अमामा उतारकर मुहम्मदशाह की तरफ बढ़ाया। बादशाह के हाथों के तोते उड़ गये। समझ गया, मुझसे दगा की गई। दोनों तरफ के शूर-सामंत सामने खड़े थे; न कुछ कहते बनता था, न सुनते। बचने का कोई उपाय न था और न कोई उपाय सोच निकालने का अवसर ही। कोई जवाब न सूझा। इनकार की गुञ्जाइश न थी। मन मसोसकर रह गया। चुपके से अमामा सिर से उतारा, और नादिरशाह की तरफ बढ़ा दिया। हाथ काँप रहे थे, आँखों में क्रोध और विषाद के आँसू भरे हुए थे। मुख पर हलकी सी मुसकुराहट झलक रही थी—वह मुसकुराहट, जो अश्रुपात से भी कहीं अधिक करुण और व्यथा-पूर्ण होती है। कदाचित् अपने प्राण निकालकर देने में भी उसे इससे अधिक पीड़ा न होती।

(६)

नादिरशाह पहाड़ों और नदियों को लाँघता हुआ ईरान को चला जा रहा था। ७० ऊँटों और इतनी ही बैलगाड़ियों की कतार देख देखकर उसका हृदय बाँसों उछल रहा था। वह बार-बार खुदा को धन्यवाद देता था, जिसकी असीम कृपा ने आज उसकी कीर्ति को उज्ज्वल बनाया था। अब वह केवल ईरान ही

का बादशाह नहीं, हिन्दुस्तान जैसे विस्तृत प्रदेश का भी स्वामी था। पर सबसे ज्यादा खुशी उसे मुगल-आजम हीरा पाने की थी, जिसे बार बार देखकर भी उसकी आँखें तृप्त न होती थीं। सोचता था, जिस समय मैं दरबार में यह रत्न धारण करके आऊँगा, सबकी आँखें झपक जायँगी, लोग आश्चर्य से चकित रह जायँगे।

उसकी सेना अन्न-जल के लिए कठिन कष्ट भोग रही थी। सरहद्दी की विद्रोही सेनाएँ पीछे से उसको दिक कर रही थीं। नित्य दस-बीस आदमी मर जाते या मारे जाते थे; पर नादिर-शाह को ठहरने की फुरसत न थी। वह भागा-भागा चला जा रहा था।

ईरान की स्थिति बड़ी भयंकर थी। शाहजादा खुद विद्रोह शांत करने के लिये गया हुआ था; पर विद्रोह दिन दिन उग्र रूप धारण करता जाता था। शाही सेना कई युद्धों में परास्त हो चुकी थी। हर घड़ी यही भय होता था कि कहीं वह स्वयं शत्रुओं के बीच घिर न जाय।

पर बाह रे प्रताप ! शत्रुओं ने ज्योंही सुना कि नादिरशाह ईरान आ पहुँचा, त्योंही उनके हौसले पस्त हो गये। उसका सिंहनाद सुनते ही उनके हाथ-पाँव फूल गए। इधर नादिरशाह ने तेहरान में प्रवेश किया, उधर विद्रोहियों ने शाहजादे से सुलह की प्रार्थना की, शरण में आ गए। नादिरशाह ने यह समाचार सुना, तो उसे निश्चय हो गया कि सब उसी हीरे की करामात है। यह उसी का चमत्कार है, जिसने शत्रुओं का सिर झुका दिया, हारी हुई बाजी जिता दी।

शाहजादा विजयी होकर लौटा, तो प्रजा ने बड़े समारोह से उसका स्वागत और अभिवादन किया। सारा तेहरान

दीपावली की ज्योति से जगमगा उठा। मंगलगान की ध्वनि से सब गली और कूचे गूँज उठे।

दरबार सजाया गया। शायरों ने कसीदे सुनाए। नादिरशाह ने गव से उठकर शाहजादे के ताज को 'मुगल-आजम' हीरे से अलंकृत कर दिया। चारों ओर 'मरहबा ! मरहबा !' की आवाजें बुलंद हुईं। शाहजादे के मुख की कांति हीरे के प्रकाश से दूनी दमक उठी। पितृस्नेह से हृदय पुलकित हो उठा। नादिर—वह नादिर जिसने दिल्ली में खून की नदी बहाई थी—पुत्र-प्रेम से फूला न समाता था। उसकी आँखों से गर्व और हार्दिक उल्लास के आँसू बह रहे थे।

(७)

सहसा बंदूक की आवाज आई—धायँ ! धायँ ! दरबार हिल उठा। लोगों के कलेजे दहल उठे। हाय ! वज्रपात हो गया। हाय रे दुर्भाग्य ! बंदूक की आवाजें कानों में गूँज ही रही थीं कि शाहजादा कटे हुए पेड़ की तरह भूमि पर गिर पड़ा; साथ ही वह रत्न-जटित मुकुट भी नादिरशाह के पैरों के पास आ गिरा।

नादिरशाह ने उन्मत्त की भाँति हाथ उठाकर कहा—कातिलों को पकड़ो ! साथ ही शाक से विह्वल होकर वह शाहजादे के प्राणहीन शरीर पर गिर पड़ा। जीवन की सारी अभिलाषाओं का अंत हो गया।

लोग कातिलों की तरफ दौड़े। फिर धायँ धायँ की आवाज आई और दोनों कातिल गिर पड़े। उन्होंने आत्महत्या कर ली। वे दोनों विद्रोही-पक्ष के नेता थे।

हाय रे मनुष्य के मनोरथ, तेरी भित्ति कितनी अस्थिर है ! बालू पर की दीवार तो वर्षा में गिरती है, पर तेरी दीवार बिना

पानी-बूँद के ढा जाती है। आँधी में दीपक का कुछ भरोसा किया जा सकता है; पर तेरा नहीं ! तेरी अस्थिरता के आगे बालकों का घरोँदा अचल पर्वत है, वेश्या का प्रेम सती की प्रतिज्ञा की भाँति अटल !

नादिरशाह को लोगों ने लाश पर से उठाया। उमका करुण क्रंदन हृदयों को हिलाए देता था। सभी की आँखों से आँसू बहर रहे थे। होनहार कितना प्रबल, कितना निष्ठुर, कितना निर्दय और कितना निर्मम है !

नादिरशाह ने हीरे को जमीन से उठा लिया। एक बार उसे विषादपूर्ण नेत्रों से देखा। फिर मुकुट को शाहजादे के सिर पर रख दिया, और वजीर से कहा—यह हीरा इसी 'लाश' के साथ दफन होगा।

रात का समय था। तेहरान में मातम छाया हुआ था। कहीं दीपक या अग्नि का प्रकाश न था। न किसी ने दिया जलाया और न भोजन बनाया। अफीमचियों की चिलमें भी आज ठंडी हो रही थीं। मगर कब्रिस्तान में मशालें रोशन थीं—शाहजादे की अंतिम क्रिया हो रही थी।

जब फातिहा खतम हुआ, नादिरशाह ने अपने हाथों मुकुट को लाश के साथ कब्र में रख दिया। राज और संगतराश हाजिर थे। उसी वक्त कब्र पर ईंट-पत्थर और चूने का मजार बनने लगा।

नादिर एक महीने तक एक क्षण के लिए भी वहाँ से न हटा। वहीं सोता था, वहाँ राज्य का काम करता था। उसके दिल में यह बात बैठ गई कि मेरा अहित इसी हीरे के कारण हुआ। यही मेरे सर्वनाश और अचानक वज्रपात का कारण है।

४—धोखा

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र

[पण्डित प्रतापनारायण मिश्र का जन्म संवत् १९१३ में, आश्विन शुक्ला ९ को, पं० संकटाप्रसाद के घर वैजेगाँव जिला कानपुर में हुआ था। मृत्यु सं० १९५१ में। इनको संस्कृत, हिंदी और अँगरेजी की साधारण शिक्षा मिली थी। उर्दू फारसी का भी इन्होंने कुछ अभ्यास किया था। ये अपने सनय के अच्छे कवि और लेखक थे। ये अपनी हास्यमयी रचनाओं के लिए बड़े प्रसिद्ध हैं। ये हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान के बड़े भक्त थे। इन्होंने कानपुर से 'ब्राह्मण' नाम का एक पत्र सं० १९४० में निकाला था जो दस वर्ष तक चलता रहा। इन्होंने हठी हमीर (नाटक), दंगल खंड (आल्हा), तृप्यंताम्, भारतदुर्दशा, राजसिंह, युगलांगुलीय आदि ४० के लगभग पुस्तकों की रचना और अनुवाद किया। दुर्भाग्यवश ३८ वर्ष की ही अवस्था में दैव ने इन्हें संसार से उठा लिया। पं० बालकृष्ण भट्ट की ही भाँति आपने भी साधारण और व्यावहारिक विषयों जैसे बात, दाँत, वृद्ध आदि पर स्वच्छंद विचार प्रकट किए तथा सुंदर लेख लिखे हैं। परंतु भावुक व्यंजना में आप भट्टजी से पिछड़ गए हैं। आपकी भाषा में पूर्वी हिंदी के ग्रामीण शब्दों एवं मुहावरों का प्रयोग भी मिलता है जिससे समकालीन साधारण समाज की रूचि का परिचय मिलता है। हाँ, भट्टजी की भाँति आत्मीयता का भाव आपके लेखों में भी पर्याप्त है। ये पाठक को अपने विश्वास में आकृष्ट कर लेते हैं, अपने व्यक्तित्व से प्रभावित कर देते हैं।]

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तो भी महाकठिन अवश्य है। जब कि भगवान् रामचंद्र ने मारीच राक्षस को

सुवर्ण-मृग समझ लिया था, तो हमारी आपकी क्या सामर्थ्य है कि धोखा न खायँ। वरंच ऐसी-ऐसी कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराकार निर्विकार ही रहने की दशा में इससे पृथक् रहता है, सो भी एक रीति से नहीं ही रहता; क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है, और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं। इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा; क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं, तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है व धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

अतः सबसे पृथक् रहनेवाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है, जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, वरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे “आश्चर्योस्य वक्ता”, “चित्रं देवानामुदगादनीकं” इत्यादि कहा है, और आश्चर्य तथा चित्रत्व को मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार-धारण की दशा में उसका नाम मायावपुधारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला। और सच भी यही है; जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला किया करता है, वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है! हम जादर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक ‘इदमित्थं’ नहीं कह सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता, वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है। शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है, जिसके विषय में भ्रम

का आरोप भी न हो सके; पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ ?

वेदांती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं, यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम ही है। किंतु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वे फूट-फूटकर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों हैं ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा कि रोना भी भ्रम ही है। सच है। भ्रमोत्पादक भ्रम-स्वरूप भगवान् के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है, भ्रम ही है। जब तक भ्रम है तभी तक संसार है, वरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं। और कौन जाने, हो तो हमें उससे कोई काम नहीं। परमेश्वर सबका भ्रम बनाए रखे, इसी में सब कुछ है। जहाँ भ्रम खुल गया, वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं, वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मान के सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें, पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं; वरंच निरे अकर्त्ता-अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और “नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय” इत्यादि सिद्धांतों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है; क्योंकि लोक और परलोक का मजा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड़ है ! ज्ञान

की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मल-मूत्र, मांस मज्जादि घृणास्पद पदार्थों का विकारमात्र है; पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं, और दर्शनस्पर्शनादि से आनंद लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे सिर में कितने बाल हैं या एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विद्वान् और सुलेखक समझते हैं, तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख-देखकर सुख प्राप्त करते हैं। विचार कर देखिए तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण वे हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरांत न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़के हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूँदि गई आँखें तब लाखें केहि काम की' पर यदि हम ऐसा समझकर सबसे संबंध तोड़ दें, तो सारी पूँजी गँवाकर निरे मूर्ख कहलावें; स्त्री-पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें! 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख-सुविधा, सुयश से वंचित रह जायँ! इतना ही नहीं, वरंच और भी सोचकर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होगी।

बहुतेरों का सिद्धांत यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक-ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट-खट, टन-टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक-ठीक बना हुआ है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इंद्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहाँ इसके क्रम में

व्यतिक्रम हुआ वहीं सब खेल बिगड़ गया। बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव, कैसी आत्मा ! एक रीति से यह कहना भूठ भी नहीं जान पड़ता, क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, उसके विषय में अंततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है ! इसी प्रकार स्वर्ग-नरकादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किंतु बड़े-बड़े आस्तिकों के सिद्धांत से भी 'अविदित सुख दुःख निर्विशेष स्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नरक और वैकुण्ठ का पता कहीं नहीं पाया। किंतु भय और लालच को छोड़ दें, तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों में रुचि न रखकर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी-ऐसी बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदासजी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदासजी का 'माया मोहिनी मनहरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं ? धोखा खानेवाला मूर्ख और धोखा देनेवाला ठग क्यों कहलाता है ? जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की भी सामर्थ्य से दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न-पिन्न चला जाता है, नहीं तो ढिंछर ढिंछर होने लगे, वरंच रही न जाय तो फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आपकी नाक-भौंह क्यों सुकुड़ जाती है ? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है, वह अपना कुछ न कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलाई खुले बिना नहीं रहती; और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों

जातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके सम्बन्ध में हो ही जाया करती हैं ।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते; क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहनेवाला बेदाग नहीं रह सकता, वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहनेवाले अल्प-सामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असंभव है, और जो जिससे बच नहीं सकता, उसका उसकी निंदा करना नीति-विरुद्ध है । पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञगण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा-पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठाना, नहीं तो काम वा वस्तु भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है ।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो क्या भीख माँग के प्रतिष्ठा, अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा, वा भूखों मरके आत्म-हत्या के पापभागी होइएगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है; पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए, तो अनेक लोगों के हित का पुण्य-लाभ होगा ।

घो बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी, और संख्या, सींगिया, आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किंतु उचित रीति से शोधकर सेवन कीजिए तो बहुत से रोग-दोख दूर हो जायँगे । यही लेखा धोखे का भी है । दो-एक बार धोखा खाके धोखेबाजों की हिम्मत सीख लो. और कुछ अपनी ओर से झपकी फुदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का

सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली वरंच 'गुड़ गुड़ ही रहा, चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो पास न फटकने दो, तो भी भविष्य के लिए हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यौही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भाँप न सके और तुम्हारा बलि-पशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथकंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस, अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरुघंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धोकर स्वादपूर्वक खा ! इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खोके सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अकिल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीतिकुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है, और छिपी रहे तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतना लिखने से आप धोखे का तत्त्व — यदि निरे खेत के धोखे न हों, मनुष्य हों तो—समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खाके धोखेबाज का पहिचानना साधारण समझवालों का काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़के आपसे भी छुड़वाया चाहते हों उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाए हुए हैं; और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुंदर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असंभव नहीं है। बस इतना स्मरण रखिएगा

तो धोखे से उत्पन्न होनेवाली विपत्तियों से बचे रहिएगा, नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओं से धोओ और खोओगे, क्योंकि जो हिन्दू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है।

५—शिवशम्भु : एक चिट्ठा

श्री बालमुकुन्द गुप्त

[बाबू बालमुकुन्द गुप्त अग्रवाल वैश्य थे। इनका जन्म संवत् १९२२ की कात्तिक शुक्ला ४ को रोहतक जिले के गुरियानी गाँव में हुआ था। सबसे पहले ये सं० १९४४ में जनता के सामने चुनार (मिर्जापुर) से निकलनेवाले उर्दू 'अखबारे चुनार' के संपादक के रूप में आए। सं० १९४५ में लाहौर के उर्दू 'कोहेनूर' के संपादक हुए। इन्हीं दिनों हिंदी का आन्दोलन चला। हिन्दी सीखकर ये कालाकाँकर के हिन्दी दैनिक 'हिन्दोस्तान' में चले आए। शीघ्र ही ये 'बंगवासी' के सहायक संपादक नियुक्त हुए और पाँच वर्ष तक उसी पद पर रहे। सं० १९५४ में 'भारतमित्र' के संपादक हुए और मृत्यु-पर्यंत उसका संपादन करते रहे। ये बड़े हास्य-प्रिय और देशानुरागी व्यक्ति थे। देश की दशा का भी ये पूरा ज्ञान रखते थे। इनके 'शिवशम्भु के चिट्ठे' से ये बातें अच्छी तरह प्रकट होती हैं। इनकी आलोचना बड़ी तीव्र होती थी। शिवशम्भु के चिट्ठे के अतिरिक्त हरिदास, मडेल भगिनी, रत्नावली नाटिका आदि कई पुस्तकों की गुप्तजी ने रचना और अनुवाद किया।]

नारङ्गी के रस में जाफरानी बमंती बूटी छानकर शिवशंभु शर्मा खटिया पर पड़ मोर्जों का आनन्द ले रहे थे। खयाली घोड़े को बागें ढोली कर दो थीं। वह मनमानी जकड़ें भर रहा था। हाथ-पाँव को भी स्वाधोनता दे दी गई थी। वे खटिया के तून-अरज की सीमा उल्लंघन करके इधर-उधर निकल गये थे। कुछ देर इसी प्रकार शर्माजी का शरीर खटिया पर था और खयाल दूसरी दुनिया में। अचानक एक सुरीली गाने की आवाज ने चौंका दिया। कनरसिया शिवशम्भु खटिया पर बैठे। कान लगाकर सुनने लगे। कानों में यह मधुर गीत बार-बार अमृत ढालने लगा—

“चलो चलो आज खेलें होली, कन्हैया घर।”

कमरे से निकल कर बरामदे में खड़े हुए। मालूम हुआ कि पड़ोस में किसो अमोर के यहाँ गाने-बजाने की महफिल हो रही है। कोई सुरीली लय से उक्त होली गा रहा है। साथ ही देखा बादल घिरे हुए हैं, बिजली चमक रही है, रिम-भिम भड़की लगी हुई है। वसन्त में सावन देखकर अकल जरा चक्कर में पड़ी। विचारने लगे कि गानेवाले को मलार गाना चाहिए, था, न कि होली। साथ ही खयाल आया कि फागुन सुदी है वसन्त के विकास का समय है, वह होली क्यों न गावे। इसमें तो गानेवाले की नहीं, विधि की भूल है, जिसने वसन्त में सावन बना दिया है। कहाँ तो चाँदनी छिटकी होती, निर्मल वायु बहती, कायल को कूक सुनाई देती, कहाँ भादों की-सो अधियारो है, वर्षा का भड़की लगा हुई है। ओह ! कैसा ऋतुविपर्यय है।

इस विचार को छोड़कर गीत के अर्थ का जी में विचार आया। हालां-खिलैया कहते हैं कि चलो आज कन्हैया के घर हालां खेजेंगे। कन्हैया कोन ? ब्रज के राजकुमार। और खेलने

वाले कौन ? उनके—ग्वालबाल । इस विचार ने शिवशम्भु शर्मा को और भी चौंका दिया कि ऐं ! क्या भारत में ऐसा समय भी था जब प्रजा के लोग राजा के घर जाकर होली खेलते थे, और राजा-प्रजा मिलकर आनन्द मनाते थे ! क्या इसी भारत में राजा लोग प्रजा के आनन्द को किसी समय अपना आनन्द समझते थे ? यदि आज शिवशम्भु शर्मा अपने मित्रवर्ग सहित अबीर-गुलाल की भोलियाँ भरे, रंग की पिचकारियाँ लिये, अपने राजा के घर होली खेलने जायँ तो कहाँ जायँ ? राजा दूर सात समुद्रपार है । न राजा को शिवशम्भु ने देखा, न राजा ने शिवशम्भु को । खैर, राजा नहीं उसने अपना प्रतिनिधि भारत भेजा है । कृष्ण द्वारका में ही हैं, पर उद्धव को प्रतिनिधि बना कर ब्रजवासियों को सन्तोष देने के लिए ब्रज में भेजा है । क्या उस राज-प्रतिनिधि के घर शिवशम्भु जाकर होली नहीं खेल सकता ? ओफ ! यह विचार वैसा ही बेतुका है जैसे अभी वर्षा में होली गाई जाती थी । पर इसमें गाने वाले का क्या दोष है ? यह समय समझ कर ही गारहा था । यदि वसंत में वर्षा की झड़ी लगे तो गानेवाले को क्या मलार गाना चाहिए ? सचमुच बड़ी कठिन समस्या है । कृष्ण हैं, उद्धव हैं, पर ब्रजवासी उनके निकट भी नहीं फटकने पाते । सूर्य है, धूप नहीं । चन्द्र है, चाँदनी नहीं । माई लार्ड नगर में ही हैं, पर शिवशम्भु उनके द्वार तक नहीं फटक सकता है, उनके घर चल होली खेलना तो विचार ही दूसरा है । माई लार्ड के घर तक बात की हवा तक नहीं पहुँच सकती । जहाँगीर की तरह उन्होंने अपने शयनागार तक कोई ऐसा घंटा नहीं लगाया जिसकी जंजीर बाहर से हिला कर प्रजा अपनी फरियाद उन्हें सुना सके । उनका दर्शन दुर्लभ है; द्वितीया के चन्द्र की भाँति कभी-कभी बहुत देर तक नजर गड़ाने से उनका

चंद्रानन दिख जाता है तो दिख जाता है। लोग उँगलियों से इशारे करते हैं कि वह हैं। किन्तु दूज के चाँद के उदय का भी एक समय है, लोग उसे जान सकते हैं। माई लार्ड के मुखचन्द्र के उदय के लिए कोई समय भी नियत नहीं।

इन विचारों ने इतनी बात तो शिवशम्भु के जी में भी पक्की कर दी कि अब राजा-प्रजा के मिलकर होली खेलने का समय गया। तो भी इतना सन्देश भंगड़ शिवशम्भु अपने प्रभु तक पहुँचा देना चाहता है कि आपके द्वार पर होली खेलने की आशा करनेवाले एक ब्राह्मण को कुछ नहीं तो कभी-कभी पागल समझकर ही स्मरण कर लेना। वह आपकी गूँगी प्रजा का एक वकील है।



उसने कहा था

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

[पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म २५ आषाढ़ संवत् १९४० को जयपुर में हुआ था। बाल्यकाल में इन्होंने अपने पिता पं० शिवराम से संस्कृत की अच्छी शिक्षा पायी थी। सन् १८९३ में इन्होंने मथाराजा कालेज जयपुर में अँगरेजी पढ़ना आरम्भ किया। सन् १९०३ में ये प्रयाग-विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में प्रथम हुए। तब ये खेतड़ी के स्वर्गवासी राजा साहब के संरक्षक बनाकर मेयो कालेज अजमेर भेजे गए। वहाँ ये बहुत समय तक अध्यापक रहे। कुछ वर्षों के बाद ये काशी-विश्वविद्यालय के संस्कृत कालेज के अध्यापक होकर आए और वहीं, संवत् १९७६ में, इनका स्वर्गवास हुआ। कुछ मित्रों के सहयोग से

इन्होंने जयपुर में 'नागरी-भवन' की स्थापना की थी। कई वर्ष तक ये 'समालोचक' के सम्पादक रहे। नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'लेखमाला' का भी इन्होंने बहुत समय तक सम्पादन किया। गुलेरीजी भाषा-विज्ञान के बड़े अच्छे विद्वान् थे। पुरानी हिन्दी पर नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में इन्होंने एक महत्त्वपूर्ण लेखमाला निकाली थी। इन्होंने समय समय पर अन्य फुटकर निबंध भी लिखे। अपने जीवन के अन्त के कुछ वर्षों में इन्होंने 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' का सम्पादन किया।]

(१)

बड़े बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गये हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह-चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले, तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर, 'बचो खालसाजी', 'हटो भाईजी', 'ठहरना माई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा' कहते हुए सफेद फेटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेतें हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी-की

तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीरो जोगिये; हट जा, करमा वालिए; हट जा, पुत्ताँ प्यारिए; बच जा, लंबी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है ?—बच जा।

ऐसे बंवूकाटवालों के बीच में होकर एक लड़का और लड़की चौक की एक दूकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दूकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

‘तेरे घर कहाँ हैं ?’

‘मगरे में; और तेरे ?’

‘मामे में;—यहाँ कहाँ रहती है ?’

‘अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।’

‘मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबजार में है।’

इतने में दूकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—

‘तेरी कुड़माई (=सगाई) हो गई ?’ इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर ‘धत्’ कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, या दूधवाले के यहाँ अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, ‘तेरी कुड़माई हो गई ?’ और

उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तब लड़की, लड़के की संभावना के विरुद्ध, बोली—'हाँ, हो गई।'।

'कब ?'

'कल;—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ीवाले (=खोमचेवाले) की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

"राम, राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दसगुना जाड़ा, और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखाता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती हैं और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों भटक करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी मेम के बाग में—मखमल की सी हरी घास

है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।”

“चार दिन तक पलक नहीं भरी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय, फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस तीस मन का गोला फेकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—”

“नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?” सूबेदार हजारासिंह ने मुसकुराकर कहा—“लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाए नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?”

“सूबेदारजी, सच है,” लहनासिंह बोला—“पर करें क्या? हड्डियों में जो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चंबे की बावलियों के सोते भर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।”

“उदमी, ठठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।” यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—“मैं पाधा

(= पुरोहित) बन गया हूँ ! करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण !”
इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गए ।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—“अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो । ऐसा खाद का पानी पञ्जाब भर में नहीं मिलेगा ।”

“हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है । मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा ।”

“लाड़ी होराँ (= स्त्री) को भी यहाँ बुला लोगे ? या वही दूध पिलानेवाली फरंगी मेम—”

“चुप कर । यहाँवालों को शरम नहीं ।”

“देस देस की चाल है । आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते । वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं ।”

“अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है ?”

“अच्छा है ।”

“जैसे मैं जानता ही न होऊँ । रातभर तुम अपने दोनों कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते हो । उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो । अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो । कहीं तुम न माँदे पड़ जाना । जाड़ा क्या है मौत है और ‘निमोनिया’ से मरनेवालों को मुरब्बे नहीं मिला करते ।”

“मेरा डर मत करो । मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा । भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाए हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी ।”

वजीरासिंह ने त्योंही चढ़ाकर कहा--“क्या मरने-मराने की बात लगाई है। मरे जर्मनी और तुरक ! हाँ भाइयो, कुछ गाओ !”

×

×

×

×

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिख गंदे गीत गायँगे पर सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गए, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधसिंह खाली बिस्कुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह कराहा।

“क्यों बोधा भाई, क्या है ?”

“पानी पिला दो।”

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—“कहो कैसे हो ?” पानी पीकर बोधा बोला—“कपनी छुट रही है। रोम रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।”

“अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।”

“और तुम ?”

“मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।”

“ना, मैं नहीं पहनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—”

“हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज

सबेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करे।” यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

“सच कइते हो ?”

“और नहीं झूठ ?” यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई—
“सूबेदार हजारासिंह !”

“कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुआ ?” कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

“देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से जियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुकम न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।”

“जो हुकुम।”

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कंबल उतारकर चलने लगा तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गए और जेब से

सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

“लो, तुम भी पियो।”

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुह क भाव छिपाकर बोला—“लाओ, साहब।” हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियोंवाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गए और उनकी जगह कैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गए ?

शायद साहब शराब पिए हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है ? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

“क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?”

“लड़ाई खत्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसंद नहीं ?”

“नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गए थे”—“हाँ, हाँ—वहीं जब आप खोते (गधे) पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ?” “बेशक, पाजी कहीं का”—“सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्टे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मैस में लगायँगे।” “हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया।”—“ऐसे बड़े-बड़े सींग ! दो-दो फुट के तो होंगे !”

“हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इञ्च के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया ?”

“पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ”—कहकर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने भटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

“कौन ? वजीरसिंह ?”

“हाँ, क्यों लहना ? क्या कयामत आ गई ? जरा तो आँख लगने दी होती ?”

(४)

“होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।”

“क्या ?”

“लपटन साहब या तो मारे गए हैं या कैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा (= ससुरा) साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।”

“तो अब ?”

“अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। लपटन के पैरों के निशान देखते देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गए होंगे। सूबेदार से कहो एकदम लौट आवें। खंदक की बात भूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।”

“हुकुम तो यह है कि यहीं—”

“ऐसी-तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।”

“पर यहाँ तो तुम आठ ही हो !”

“आठ नहीं, दस लाख। एक एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।”

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब “ओ ! माई गाड” कहते हुए चित्त हो गए। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्झा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—“क्यों लपटन साहब ! मिजाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगाँव होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब

खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आए? हमारे लपटन साहब तो बिना “डैम” के पाँच लपज भी नहीं बोला करते थे।

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचाने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—“चालाक तो बड़े हो पर माँके का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने का तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़ पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायँगे तो गोहत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जानेवाला है। डाकबाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो—”

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपालक्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आए।

बोधा चिल्लाया—“क्या है?”

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि “एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया” और औरों से सब हाल कह दिया। बंदूकें लेकर सब तैयार हो गए। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं।

घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक तककर मार रहा था—वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई “वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरुजी की खालसा!” और धड़ाधड़ बंदूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गए। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पियोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—“अकाल सिक्खाँ दी फौज आई! वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरुजी दा खालसा!! सत श्रीअकाल पुरुष!!! और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पंद्रह के प्राण गए। सूबेदार के दाहिने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया। और बाकी को साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ ‘क्षयी’ नाम-सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसा कि बाण-

भट्ट की भाषा में 'दंतवीणोपदेशाचार्य' कहलाती है। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन, और कागजात पाकर, उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से भटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चली, जो कोई डेढ़ घंटे के अंदर अंदर आ पहुँची। फील्ड-अस्पताल नजदीक था। सुबह होते होते वहाँ पहुँच जाएँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाए गए और दूसरी में लाशें रखी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बाँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है; सबेरे देखा जायगा। बोधसिंह ज्वर में बरा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगंध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।

“और तुम ?”

“मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।”

“अच्छा, पर—”

“बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था

टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था वह मैंने कर दिया।”

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाए हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?

“अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।”

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। “वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।”

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएँ एक एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

×

×

×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई हो गई, तब ‘धत्’ कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—“हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?” सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

“वजीरासिंह, पानी पिला दे।”

पचीस वर्ष बीत गए। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफलस

में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेर्जामेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं, लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे।

सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार वेड़े में से निकलकर आया। बोला—“लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा, मिल आ।” लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेर्जामेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर ‘मत्था टेकना’ कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

“मुझे पहचाना?”

“नहीं।”

तेरी कुड़माई हो गई?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

“बजीरा, पानी पिला—उसने कहा था।”

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—“मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गए। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों [= खियों] की प्रेरणा दी। पलटन

क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती ? एक बेटा है । फौज में भरती हुए उसे एक ही वर्ष हुआ । उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया ।” सूबेदारनी रोने लगी—“अब दोनों जाते हैं । मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था । तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे । आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था । ऐसे ही इन दोनों को बचाना । यह मेरी भिन्ना है । तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ ।”

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई । लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया ।

“वजीरासिंह, पानी पिला”—उसने कहा था ।

x

x

x

लहना का सिर अपनी गोदी पर रखे वजीरासिंह बैठा है । जब माँगता है, तब पानी पिला देता है । आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

“कौन ? कीरतसिंह ?”

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—हाँ ।

“भइया, मुझे और ऊँचा कर ले । अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले ।”

वजीरा ने वैसा ही किया ।

“हाँ, अब ठीक है । पानी पिला दे । बस, अब के हाड़ (=आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा । चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना । जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना

ही यह आम है; जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था ।”

बजीरासिंह के आँसू टप् टप् टपक रहे थे ।

×

×

×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम—६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह ।

—

७—आत्म-निर्भरता

पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

[आलोचक-प्रवर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का जन्म बस्ती जिले के अगोना ग्राम में संवत् १९४१ की आश्विन पूर्णिमा को हुआ था । घर में संस्कृत तथा कालेज में एफ० ए० तक शिक्षा प्राप्त की थी किन्तु स्वाध्याय द्वारा आप अनेक भाषाओं के अच्छे ज्ञाता हो गये । प्रारम्भ में आपने मिशन स्कूल मिर्जापुर में अध्यापन कार्य किया । संवत् १९६५ में ‘हिन्दी शब्दसागर’ के सहकारी सम्पादक नियुक्त हुए । लगभग १९ वर्ष तक आपने त्रैमासिक ‘नागरी-प्रचारिणी पत्रिका’ का सम्पादन किया । हिन्दू-विश्व-विद्यालय, काशी में आप हिन्दी के अध्यापक तथा बाद में मृत्यु-पर्यन्त हिन्दी-विभाग के अध्यक्षपद पर आसीन रहे ।

शुक्लजी उद्भट समालोचक, मौलिक निबन्धकार, गम्भीर लेखक एवं सुकवि थे । हिन्दी में वैज्ञानिक ढङ्ग की समीक्षा का प्रारम्भ शुक्लजी की लेखनी द्वारा ही हुआ । जायसी और तुलसी और सूर पर लिखी

इनकी आलोचनाएँ आदर्श रूप से मान्य समझी जाती हैं। 'काव्य में रहस्यवाद' इनका एक सुन्दर समीक्षात्मक निबन्ध है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने आपको इस पर ५००) पुरस्कार देकर सम्मानित किया था। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' इनकी सर्वश्रेष्ठ मौलिक रचना है। 'चिन्तामणि' नाम से इनके लेखों का संग्रह प्रकाशित हुआ है, जिस पर प्रयाग, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपको १२००) का 'मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक' प्रदान किया था। अनूदित ग्रन्थों में 'बुद्ध-चरित' (लाइट आफ एशिया का अनुवाद) एवं शशाङ्क (उपन्यास) अत्यन्त सुन्दर कृतियाँ हैं। 'हृदय का मधुर भार', 'वसन्त पथिक' प्रभृति इनकी कविताओं में प्रकृति-वर्णन बहुत सुन्दर हुआ है।

इनके मनोवैज्ञानिक निबन्ध जैसे—करुणा, क्रोध, श्रद्धा और भक्ति, एवं आत्मबल हिन्दी में अद्वितीय हैं। इनकी गद्य-शैली अत्यन्त ठोस एवं संक्षिप्त है। उस पर इनके व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। मननशीलता एवं उद्भावना उसके प्रधान गुण हैं। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही प्रयोग हुआ है और मुहावरों तथा कहावतों का अभाव-सा है। उर्दू शब्दों का प्रयोग इन्होंने व्यंग्य के लिए किया है। इनके वाक्यों की योजना एवं विराम-चिह्नों का प्रयोग इतनी सावधानी के साथ हुआ है कि इनकी शैली में अपूर्व गठन-सौष्ठव एवं स्पष्टता पाई जाती है। 'आत्म-निर्भरता' इनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों का सुन्दर उदाहरण है।]

विद्वानों का यह कथन बहुत ठीक है कि नम्रता ही स्वतन्त्रता की धात्री व माता है। लोग भ्रम-वश अहङ्कार वृत्ति को उसकी माता समझ बैठते हैं पर वह उसकी सौतेली माता है जो उसका सत्यानाश करती है। चाहे यह सम्बन्ध ठीक हो या न हो; पर इस बात को सब लोग मनाते हैं कि आत्म-संस्कार के लिए थोड़ी-बहुत मानसिक स्वतन्त्रता परम आवश्यक है—चाहे

उस स्वतन्त्रता में अभिमान और नम्रता दोनों का मेल हो और चाहे वह नम्रता ही से उत्पन्न हो। यह बात तो निश्चित है कि जो मनुष्य मर्यादापूर्वक जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसके लिए वह गुण अनिवार्य है, जिससे आत्म-निर्भरता आती है और जिससे अपने पैरों के बल खड़ा होना आता है। युवा पुरुष को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि वह बहुत कम बातें जानता है, अपने ही आदर्श से वह बहुत नीचे है और उसकी आकांक्षाएँ उसकी योग्यता से कहीं बढ़ी हुई हैं। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने बड़ों का सम्मान करे, छोटों और बराबरवालों से कोमलता का व्यवहार करे। ये बातें आत्म-मर्यादा के लिए आवश्यक हैं। यह सारा संसार, जो कुछ हम हैं और जो कुछ हमारा है—हमारा शरीर, हमारी आत्मा, हमारे कर्म, हमारे भोग, हमारी घर की और बाहर की दशा, हमारे बहुत से अवगुण और थोड़े से गुण सब इसी बात की आवश्यकता प्रकट करते हैं कि हमें अपनी आत्मा को नम्र रखना चाहिए। नम्रता से मेरा अभिप्राय दबूपन से नहीं है जिसके कारण बातचीत में मनुष्य दूसरों का मुँह ताकता रहता है, जिससे उसका संकल्प क्षीण और उसकी प्रज्ञा मन्द हो जाती है, जिसके कारण वह आगे बढ़ने के समय भी पीछे रहता है और अवसर पड़ने पर चटपट किसी बात का निर्णय नहीं कर सकता। मनुष्य का बेड़ा अपने ही हाथ में है, उसे वह चाहे जिधर लगावे। सच्ची आत्मा वही है जो प्रत्येक दशा में, प्रत्येक स्थिति के बीच, अपनी राह आप निकालती है।

अब तुम्हें क्या करना चाहिए, इसका ठीक ठीक उत्तर तुम्हीं को देना होगा, दूसरा कोई नहीं दे सकता। कैसा भी विश्वासपात्र मित्र हो, तुम्हारे इस कार्य को वह अपने ऊपर नहीं ले सकता। हम अनुभवी लोगों की बातों को आदर के साथ

सुनें, बुद्धिमानों की सलाह को कृतज्ञतापूर्वक मानें, पर इस बात को निश्चित समझकर कि हमारे कामों ही से हमारी रक्षा व हमारा पतन होगा, हमें अपने विचार और निर्णय की स्वतंत्रता को दृढ़तापूर्वक बनाये रखना चाहिए। जिस पुरुष की दृष्टि सदा नीची रहती है, उसका सिर कभी ऊपर न होगा। नीची दृष्टि रखने से यद्यपि रास्ते पर रहेंगे, पर इस बात को न देखेंगे कि वह रास्ता कहाँ ले जाता है। चित्त की स्वतन्त्रता का मतलब चेष्टा की कठोरता या प्रकृति की उग्रता नहीं है। अपने व्यवहार में कोमल रहो और अपने उद्देश्यों को उच्च रक्खो, इस प्रकार नम्र और उच्चाशय दोनों बनो। अपने मन को कभी मरा हुआ न रक्खो। जितना ही जो मनुष्य अपना लक्ष्य ऊपर रखता है, उतना ही उसका तीर ऊपर जाता है।

संसार में ऐसे-ऐसे दृढ़चित्त मनुष्य हो गये हैं जिन्होंने मरते दम तक सत्य की टेक नहीं छोड़ी, अपनी आत्मा के विरुद्ध कोई काम नहीं किया। राजा हरिश्चन्द्र के ऊपर इतनी-इतनी विपत्तियाँ आईं, पर उन्होंने अपना सत्य नहीं छोड़ा। उनकी प्रतिज्ञा यही रही—

चन्द्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत् व्यवहार।

पै दृढ़ श्री हरिचन्द्र को टरै न सत्य विचार ॥

महाराणा प्रतापसिंह जंगल-जंगल मारे-मारे फिरते थे, अपनी स्त्री और बच्चों को भूख से पीड़ित देखते थे, परन्तु उन्होंने उन लोगों की बात न मानी जिन्होंने उन्हें अधीनता-पूर्वक सन्धि करने की सम्मति दी; क्योंकि वे जानते थे कि अपनी मर्यादा की चिन्ता जितनी अपने को हो सकती है, उतनी दूसरे को नहीं। हकीकतराय नामक वीर बालक को देखो जिसने जल्लाद की चमकती हुई तलवार गरदन पर देखकर भी काजी के सामने धर्म-परित्याग करना स्वीकार न किया। सिक्ख

गुरु गोविन्दसिंह के दोनों लड़के जीते जी दीवार में चुन दिये गए, पर वे अपना धर्म छोड़कर मुसलमान होने के नाम पर 'नहीं' 'नहीं' करते रहे। एक बार एक रोमन राजनीतिज्ञ बलवाइयों के हाथ पड़ गया। बलवाइयों ने उससे व्यंगपूर्वक पूछा—“अब तेरा कित्ता कहाँ है ?” उसने हृदय पर हाथ रखकर उत्तर दिया “यहाँ”। ज्ञान के जिज्ञासुओं के लिए यही बड़ा भारी गढ़ है।

मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि जो युवा पुरुष सब बातों में दूसरों का सहारा चाहते हैं, जो सदा एक न एक नया अगुआ ढूँढ़ा करते हैं और उसके अनुयायी बना करते हैं, वे आत्म-संस्कार के कार्य में उन्नति नहीं कर सकते। उन्हें स्वयं विचार करना, अपनी सम्मति आप स्थिर करना, दूसरों की उचित बातों का मूल्य समझते हुए भी उनका अन्धभक्त न होना सीखना चाहिए। तुलसीदासजी को लोक में जो इतनी सर्वप्रियता और कीर्ति प्राप्त हुई, उनका दीर्घ जीवन जो इतना महत्त्वमय और शान्तिमय रहा, सब इसी मानसिक स्वतन्त्रता, निर्द्वन्द्वता और आत्म-निर्भरता के कारण। वही उनके समकालीन केशवदास को देखिए जो जीवन भर विलासी राजाओं के हाथ की कठपुतली बने रहे, जिन्होंने आत्म-स्वातन्त्र्य की ओर कम ध्यान दिया और अन्त में आप अपनी बुरी गति की। एक इतिहासकार कहता है—“प्रत्येक मनुष्य का भाग्य उसके हाथ में है। प्रत्येक मनुष्य अपना जीवन-निर्वाह श्रेष्ठ रीति से कर सकता है। यही मैंने किया है और यदि अवसर मिले तो यही करूँ।” इसे चाहे स्वतन्त्रता कहो चाहे आत्मनिर्भरता कहो, चाहे स्वावलम्बन कहो, जो कुछ कहो, वह यही भाव है जिससे मनुष्य और दास में भेद जान पड़ता है। यह वही भाव है जिसकी प्रेरणा से राम-लक्ष्मण ने घर से

निकल बड़े पराक्रमी वीरों पर विजय प्राप्त की, यह वही भाव है जिसकी प्रेरणा से हनुमान् ने अकेले सीता की खोज की, यह वही भाव है जिसकी प्रेरणा से कोलम्बस ने अमेरिका के समान बड़ा महाद्वीप ढूँढ़ निकाला। चित्त की इसी वृत्ति के बल पर सूरदास ने अकबर के बुलाने पर फतहपुर सीकरी जाने से इनकार किया और कहा था—

“कहा मोको सीकरी सों काम”

इस चित्त-वृत्ति के बल से मनुष्य इसलिए परिश्रम के साथ दिन काटता और दरिद्रता के दुःख को भेलता है जिसमें उसे ज्ञान के अमित भाण्डार में से कुछ थोड़ा-बहुत मिल जाय। इसी चित्त-वृत्ति के प्रभाव से हम प्रलोभनों का निवारण करके उन्हें पद-दलित करते हैं, कुमन्त्रणाओं का तिरस्कार करते हैं और शुद्ध चरित्र के लोगों से प्रेम और उनकी रक्षा करते हैं। इसी चित्त-वृत्ति के प्रभाव से युवा पुरुष कार्यालयों में शान्त और सच्चे रह सकते हैं और उन लोगों की बातों में नहीं आ सकते जो आप अपनी मर्यादा खोकर दूसरों को भी अपने साथ बुराई के गड्ढे में गिराना चाहते हैं। इसी चित्त-वृत्ति के प्रताप से बड़े बड़े लोग ऐसे समयों में भी, जब कि उनके और साथियों ने उनका साथ छोड़ दिया है, अपने महत्कार्यों में अग्रसर होते गये हैं और यह सिद्ध करने में समर्थ हुए हैं कि निपुण, उत्साही और परिश्रमी पुरुषों के लिए कोई अड़चन ऐसी नहीं जो कहे कि “बस यहीं तक, और आगे न बढ़ना।” इसी चित्तवृत्ति की दृढ़ता के सहारे दरिद्र लोग दरिद्रता से और अपद लोग अज्ञता से निकलकर उन्नत हुए हैं तथा उद्योगी और अध्यवसायी लोगों ने अपनी समृद्धि का मार्ग निकाला है। इसी चित्त-वृत्ति के अवलम्बन से पुरुषसिंहों को यह कहने की क्षमता हुई है कि “मैं राह ढूँढ़ूँगा या राह निकालूँगा।” यही चित्त-वृत्ति थी जिसकी

उत्तेजना से शिवाजी ने थोड़े से वीर मराठे सिपाहियों को लेकर औरङ्गजेब की बड़ी भारी सेना पर छापा मारा और उसे तितर-बितर कर दिया। यही चित्त-वृत्ति जिसके सहारे से एकलव्य बिना किसी गुरु या सङ्गी-साथी के जङ्गल के बीच निशाने पर तीर चलाता रहा और अन्त में एक बड़ा धनुर्धर हुआ। यही चित्त-वृत्ति है जो मनुष्य को सामान्य जनों से उच्च बनाती है, उसके जीवन को सार्थक और उद्देश्यपूर्ण करती है तथा उसे उत्तम संस्कारों के ग्रहण करने के योग्य बनाती है। जिस मनुष्य की बुद्धि और चतुराई उसके हृदय के आश्रय पर ही स्थित रहती है, वह जीवन और कर्म-क्षेत्र में स्वयं भी श्रेष्ठ और उत्तम रहता है और दूसरों को भी श्रेष्ठ और उत्तम बनाता है। प्रसिद्ध उपन्यासकार स्काट एक बार ऋण के बोझ से बिलकुल दब गया। मित्रों ने उसकी सहायता करनी चाही, पर उसने यह बात स्वीकार नहीं की और स्वयं अपनी प्रतिभा ही का सहारा लेकर अनेक उपन्यास थोड़े समय के बीच लिखकर लाखों रुपये का ऋण अपने सिर पर से उतार दिया।

—

८—तीन बच्चे

श्रीमती सुभद्राकुमारा 'चाहान'

[प्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती चौहान का जन्म संवत् १९६१ में हुआ था और आपका पाणिग्रहण-संस्कार हिन्दी-सर्वी टा० लक्ष्मणसिंहजी बी० ए०, एल्-एल् बी० के साथ वि० संवत् १९७६ में सम्पन्न हुआ था। आपकी रुचि आरम्भ से ही काव्य की ओर आवाजित थी।

आपने कहानी-क्षेत्र में अनेकानेक सुन्दरतम कहानियाँ लिखी हैं। स्वाभाविक चित्रण जितना सुन्दर आपकी रचनाओं में मिलता है उतना अन्य लेखकों की रचना में नहीं है।

आपने कविता-क्षेत्र में भी बहुत ख्याति प्राप्त की है। खड़ी बोली में कविता लिखनेवाली महिलाओं में हम इन्हें उच्च सम्मान देते हैं। आपकी कविताओं का संग्रह “मुकुल” नाम से छप चुका है।

आपकी लगभग सभी रचनाओं में सरसता, सरलता और स्वाभाविकता रहती है। परन्तु कहानी-क्षेत्र में आपकी भाषा स्वच्छ और सुव्यवस्थित होती है।

आपकी रचना पर आपको ‘मंगलाप्रसाद पारितोषिक’ भी मिल चुका है। कुछ समय पूर्व मोटर-दुर्घटना से आपकी मृत्यु हो गई।]

मेरे बच्चों में से प्रत्येक ने अपने लिए एक-एक फूलों का बगीचा लगाया था। बगीचा क्या फूलों की छोटी-छोटी क्यारियाँ थीं। एक दिन सबेरे हम लोगों ने देखा कि उन क्यारियों में फूल खिल आये हैं।

बच्चे ही तो ठहरे! हर एक को अपनी अपनी क्यारी के फूल अधिक सुन्दर जान पड़े—और इसी बात पर उन लोगों में लड़ाई छिड़ गई। हर एक का कहना था कि उसकी क्यारी के फूल सबसे अधिक सुन्दर हैं।

बात बढ़ते बढ़ते फूलों से हटकर दूसरे ही क्षेत्र में जा पहुँची। एक हिटलर बना, तो दूसरा मुसोलिनी और तीसरा स्टालिन। और मुझे इन तीनों की माँ बनने का सौभाग्य, एक साथ ही, प्राप्त हो गया।

संप्राम में विपैले वाक्यों का प्रयोग होते सुनकर, मुझे चौंके का काम छोड़, बगीचे की ओर जाना पड़ा। मुझे देखते ही सब एक साथ, अपने-अपने पक्ष का समर्थन धर, न्याय की दुहाई देने लगे।

न्याय का कार्य उतना आसान न था, जितना एक अदालत के जज का होता है। जज के पथ-प्रदर्शन के लिए कानून होते हैं और नजीरें भी। चाहे लकीर की फकीरी में अन्याय ही क्यों न हो जाय, पर उसका मार्ग स्पष्ट रहता है। मेरे सामने न कानून था, न नजीर—फिर भी मुझे यह लड़ाई समाप्त करनी थी—और न्याय-पूर्वक !

मैं सोच ही रही थी कि निर्णय के लिए जूरी क्यों न नियत कर दिये जायँ कि इतने में ही बच्चों के काकाजी आते दिखे। चीखना-चिल्लाना तो दूर, उन्हें किसी का पंचम स्वर के ऊपर बोलना तक पसंद नहीं है। बच्चों को लड़ते देखकर बोले—“अच्छा, यह लड़ाई किस लिए है ? यदि तुम लोग लड़े-भिड़े तो मैं तुम्हारी माँ को सत्याग्रह न करने दूँगा।”

मेरे हिटलर-मुसोलिनी शान्त हो गये। माँ के बिना जिन्हें स्कूल जाने तक मैं कष्ट होता है; माँ के बिना जिनका एक भी काम नहीं हो सकता; वही मेरे बच्चे जी से चाहते थे कि मैं सत्याग्रह करूँ और जेल जाऊँ।

अब मैंने उनसे पूछा कि कोई शिकायत तो नहीं है, तो सब एक स्वर से बोल उठे—“नहीं माँ, सभी कार्यों के फूल बहुत सुन्दर हैं। तुम सत्याग्रह करो और जल्दी जेल जाओ।”

हम सब भीतर जाने को उठ ही रहे थे कि बाहर से गाने की आवाज आई—गाना कोरस में था और स्वर था बच्चों का सा—

“भगवान् दया करना इतनी,

मोरी नैया को पार लगा देना।”

और अब तो हम सभी दरवाजे की ओर दौड़ पड़े। इसी समय दूसरा पद सुनाई पड़ा—“मैं तो डूबत हूँ मझार पड़ी, मोरी बैयाँ पकड़ के उठा लेना।”

बाहर आकर देखा—तीन बच्चे थे—दो लड़कियाँ और एक लड़का। बड़ी लड़की होगी दस बरस की; छोटी आठ और सात के बीच में थी और लड़का, वह बड़ी की गोद में ही था—कोई पाँच साल का। हम लोगों को देखते ही उन्होंने गाना बन्द कर दिया। लड़के को गोद से उतारकर, बड़ी ने जमीन से माथा टेककर हमें प्रणाम किया। उसकी देखा-देखी छोटी लड़की और लड़के ने भी जमीन से माथा टेका और तीनों ने अपने चीथड़ों में छिपे हुए पेट को दिखाकर यह बतलाया कि भूखे हैं। बड़ी के हाथ में एक भोली थी और छोटी के हाथ में एक टीन का डिब्बा। उन्होंने एक बार भोली की ओर देखा जो बिलकुल खाली जान पड़ती थी; फिर हमारी ओर याचना की दृष्टि से देखने लगे। मैंने उनसे कहा—“तुम गाती तो बहुत अच्छा हो, और भी कोई गाने जानती हो !”

बड़ी के बोलने के पहले ही छोटी बोल उठी—“हमें भजन भी आते हैं; बड़ी मालकिन !” और आदेश पाये बिना ही वे दोनों गाने लगीं—

“कमर कस ले रे बिलोची, तेरे सङ्ग चलूँगी।

तेरे सङ्ग चलूँगी रे तेरे साथ चलूँगी।

कमर कस ले.....।

मेरे साथ चलेगी तो तेरी अम्मा लड़ेगी....।”

हम लोगों की हँसी अब दबाये न दबी। अम्मा के लड़ने की बात सुनते ही वह फूट पड़ी। वे सभी शर्माकर चुप हो गये। उनकी दृष्टि से ऐसा जान पड़ता था कि वे किसी अज्ञात भूल से दुखी हो गये हैं। मैंने हँसी रोककर, आश्वासन के स्वर में कहा—“बहुत अच्छा गाया।” मेरी बात सुनते ही वे फिर बैठकर लगे जमीन से माथा टेकने। मैंने पूछा—“तुम्हें क्या चाहिए—पका हुआ खाना या कच्चा ?”

बड़ी ने फिर जमीन से माथा टेककर कहा—“कुछ भी खाने को चाहिए, बड़ी मालकिन ! कल से कुछ नहीं खाया है ।” मैंने बच्चों से कहा कि इन्हें दो-दो पूरियाँ लाकर दे दो,—और मैं अन्दर चली गई ।

बच्चों ने इन्हें कितनी-कितनी पूरियाँ दीं, यह तो मैं नहीं कह सकती पर जब चौके में जाकर देखा तो न डिब्बे में एक भी पूरी थी और न कटोरे में तरकारी ।

(२)

दूसरे दिन हम लोग सुबह की चाय पीकर उठने ही वाले थे कि वे बाल-गवैये फिर आ पहुँचे । हमें, कोमल स्वर में, सुनाई पड़ा—

“साँवरिया हमें भूल गयो, सखि, साँवरिया ।

बिंदराबन की कुछ गलिन में बाज रही है बाँसुरिया

हमें भूल गयो सखि, साँवरिया ।”

मैंने अपने बच्चों से कहा—कल तुमने उन्हें खूब पूरियाँ खिलाई थीं न ! अब वे सब फिर आ गये । जैसे उनके लिए यहाँ रोज ही पूरियाँ धरी हैं !”

“धरी तो हैं, माँ !” एक साथ ही बच्चों के मुँह से निकला और सबके हाथ एक साथ ही पूरी के डिब्बे की ओर बढ़े ।

मैंने उन्हें रोकते हुए कहा—“ठहरो ठहरो ! रोज-रोज उन्हें पूरियाँ खिलाओगे तो वे दर्वाजा ही न छोड़ेंगे । उन्हें चाबल या आटा देकर जाने को कह दो ।”

एक बच्चा बोल उठा—“बेचारे छोटे-छोटे बच्चे म - जाने उनकी माँ भी है या नहीं । वे भला कहाँ पकायेंगे ?”

दूसरा ताने के स्वर में बोला—“इससे तो यही अच्छा है कि उन्हें कुछ भी न दिया जाय ।”

सबसे छोटा बोला—“तुम भी माँ होकर ऐसा क्यों कहती हो, माँ ! उन बेचारों को भी भूख लगी होगी । हमारे हिस्से की ही दे दो ।”

लड़की सबमें समझदार थी । उसकी दृष्टि यही चाह रही थी कि माँ का इशारा भर मिले और पूरियों का डिब्बा ले जाकर वह उन बच्चों को खिला दे ।

मैंने उदासीनता से कहा—“पूरियाँ ही दे दो, पर शाम को फिर तुम्हारे लिए नाश्ता बनाना पड़ेगा ।”

“माँ, हम शाम को नाश्ता नहीं करेंगे” एक स्वर में एक साथ बच्चों ने कहा और हाथ में पूरियाँ लिये हुए दरवाजे की ओर दौड़ पड़े ।

चौके का काम निपटाकर, मैं भी बाहर गई । देखा वे तीनों बड़े मजे में पूरियाँ खा रहे थे और मेरे बच्चे भी बड़े उत्साह से उन्हें परस रहे थे । जब वे खा-पीकर उठे तो मैंने कहा—“देखो भाई ! तुमने पूरियाँ तो खा लीं । अब बिना गाना सुनाये न जाने पाओगी ।” उन्होंने कृतज्ञता-पूर्वक माथा जमीन पर टेककर गाना शुरू किया -

“अब न रहुँगी कान्हा, तोरी नगरिया ।

हाट-बाट मोरी गैल न छोड़े.

पनघट पर मोरी फोरे गगरिया ।

अब न रहुँगी....॥”

गाना गा चुकने के बाद उन्होंने फिर जमीन से माथा टेका, जैसे हमें आशीर्वाद देकर जाने के लिए उद्यत हों, पर मैंने उन्हें रोककर पूछा—“क्या तुम तीनों भाई-बहन हो ?”

“हाँ, बड़ी मालकिन”—बड़ी लड़की ने कहा ।

मैंने पूछा—“तुम्हारा नाम क्या है ?” अपना नाम उसने

‘ईंठी’, छोटी बहिन का नाम ‘सींठी’ और भाई का नाम ‘प्रेमा’ बताया ।

‘ईंठी’, सींठी, प्रेमा’ उनका नाम दुहराते हुए मैंने पूछा—
“क्या तुम्हारे माँ-बाप कोई नहीं हैं ? तुम कल भी अकेले आये थे, आज भी ।”

छोटी लड़की बड़ी तत्परता से बोल उठी—“माँ भी हैं और बाप भी हैं, बड़ी मालकिन;—हमारे सब कोई हैं ।”

“कहाँ हैं तुम्हारे माँ-बाप जो तुम्हें इस तरह अकेले फिरने को भेज देते हैं ?”

“बाप अमरावती में हैं और माँ...”

“अमरावती में तुम्हारा बाप क्या करता है ?” मेरा छोटा लड़का बीच में ही पूछ बैठा ।

“जेल में है, छोटे बाबू ।” बड़ी लड़की ने उत्तर दिया ।

“जेल में है !” मैंने कुछ अनास्था से पूछा—“जेल क्यों हुई उसे ?”

लड़की बोली—“वह दारू जो पीता था । और दारू पीकर वह चुप भी नहीं रहता था । दङ्गा करता था, माँ को मारता था, गाली बकता था और इसी लिए तो (लड़की आँख उठाकर मेरी ओर देखते हुए बोली) बड़ी मालकिन, पुलिसवालों ने उसे पकड़ा और सब लोग कहते हैं पुलिसवालों ने ठीक किया ।”

“और तुम्हारी माँ, वह अब कहाँ है ?” मैंने पूछा ।

लड़की बोली—“माँ । वह भी तो जेल में है और उसी के साथ हमारा सबसे छोटा भाई भी है । वह तो (अपने भाई की ओर उँगली दिखाकर लड़की ने कहा) प्रेमा से भी छोटा है । वह रोता नहीं । इससे अच्छा है ।”

‘बेचारे बच्चे !’ मेरे मुँह से निकल पड़ा—“माँ-बाप दोनों जेल में और ये अनाथ सड़क पर भीख माँगते फिरते हैं ।”

मैंने फिर पूछा—“तुम्हारी माँ ने क्या किया था ?”

लड़की बोली—“हमारी माँ ने पुलिसवाले को मारा था— जिसने हमारे बाप को पकड़ा था न. उसी को। और फिर वे माँ को भी पकड़ ले गये। बड़े बुरे हांते हैं पुलिसवाले—हमारी माँ को भी ले गये। माँ के बिना हमको भी बुरा लगता है पर यह प्रेमा तो रात-दिन रोता ही रहता है !”

मैंने लड़के की ओर देखा—बेचारा छोटा-सा बच्चा; मुश्किल से पाँच बरस का; फटे चीथड़े में लपटा हुआ; सिर में महीनों तेल का नाम नहीं; रूखे बिखरे बाल; न जाने कब से नहाया नहीं था, शरीर पर एक मैल की तह-सी जम गई थी; गालों पर आँसुओं के निशान बने हुए थे, आँसुओं के साथ-साथ उस स्थान की मैल जो धुल गई थी। मुझे उस बच्चे पर बड़ी दया आई। मैंने उस लड़की से पूछा—“तुम लोग अपनी माँ से जेल में मिलने नहीं जातीं ?”

छोटी बोल उठी—“जाती हैं बड़ी मालकिन।” बड़ी ने कहा—“तीन महीने में एक बार मुलाकात होती है। एक बार मुलाकात करने गये थे; दूसरी बार तीन महीने के बाद जब हम लोग गये तब मालूम हुआ कि माँ को यहाँ की जेल में भेज दिया है। तो हम लोग सब काली माँ के साथ यहाँ चले आये। काली माँ भी भीख माँगती है।”

“तुम लोग रात को कहाँ रहती हो ? सोती कहाँ हो ? तुम्हें डर नहीं लगता ?” मैंने पूछा।

बड़ी लड़की ने कहा—“जेल के पास एक नाला है। हम लोग रात को वहीं पुल के नीचे माँ की बातें करते-करते सो जाते हैं। कभी-कभी काली माँ भी आ जाती है, पर वह रोज नहीं आती।”

“माँ की सजा कितने दिन की है ?”

“दो साल की” बड़ी लड़की ने कहा, “हम रोज जेल को देखते हैं। हमारी माँ वहीं तो है। जब माँ छूटेगी हम उसको साथ लेकर देश जायँगे।” एक प्रकार की खुशी से बालिका पुलकित हो उठी। अपनी माँ को लेकर जैसे वह सचमुच देश जाने की तैयारी कर रही हो।

मैंने लड़की से पूछा—“तुम लोग नहाती हो कभी?”

संकोच से बड़ी लड़की चुप रही। छोटी ने कहा—“हमारे पास दूसरे कपड़े नहीं हैं न।”

मेरा इशारा पाते ही मेरे बच्चों ने अपने पुराने कपड़ों में से, उनके पहनने के लिए, बहुत से कपड़े ला दिये।

मेरा चित्त उदास हो गया। मैं कमरे में बैठकर कुछ सोचने लगी और वे बच्चे कपड़े लेकर खुशी-खुशी चले गये।

कुछ दूर से गाने की आवाज आई—

“मैं तो डूबत हूँ मझधार पड़ी,
मोरी बैयाँ पकड़ के उठा लेना।”

बहुत से सुन्दर-सुन्दर पद पढ़े, लिखे और सुने थे। पर स्वर और आत्मा का ऐसा संयोग तो कहीं नहीं देखा था, शब्द और वस्तु का ऐसा मेल तो कभी चित्रित नहीं हुआ।

मैं उन्हें बुलाने के लिए झपटी, परन्तु तब तक वे दूर निकल गये थे।

(३)

इस घटना के दूसरे ही दिन, मैं भी युद्ध-विरोधी सत्याग्रह करके जेल की अतिथि बनी, मेरे और बच्चों ने तो हँसी-खुशी से बिदाई दी पर सबसे छोटी मिनू बहुत छोटी होने के कारण, मुझे छोड़कर घर में न रह सकती थी। अतएव वह मेरे साथ ही गई।

उस समय जबलपुर जेल में कोई अन्य राज-वन्दिनी न थी। अकेली होने के कारण मैं अस्पताल में रखी गई। मेरी सेवा के लिए दो साधारण कैदी स्त्रियाँ रात में मेरे साथ रहती थीं। दिन में सब लोग एक साथ रह सकते थे।

कैदखाने की दुनिया भी एक विचित्र ही वस्तु है।

यह कौन है ? चोर !

यह ? यह चरस बेचती थी और इसने नवजात शिशु की हत्या करने की चेष्टा की थी। पर माँ होकर यह हत्या कर सकती थी—इसका मुझे विश्वास न हुआ।

और यह लड़की ? यह तो अभी बहुत कम उमर है ! इसने क्या किया था ? इसने पति और सास को जहर दिया था ! मैं काँप उठी। विधाता ! क्या यह सचमुच स्त्रियाँ हैं ? क्या तुम्हारी ही आज्ञा से इनका सृजन हुआ था ?

किन्तु, इसी समय जैसे कोई अन्दर से बोल उठा—‘यह तसवीर का एक ही पहलू है—इसकी दूसरी ओर भी देखो ! संभव है ये निर्दोष हों; संभव है ये देवियाँ हों।’

मेरी सेवा के लिए जो दो औरतें तैनात थीं, उनमें से एक तो अल्हड़-सी थी, जिसे कुछ काम-काज न आता था पर दूसरी समझदार थी। वह प्रौढ़ा थी। उसकी गोद में भी एक बच्चा था। वह बड़ी फिक्र से सब काम करती थी। वह अधिकतर चुप रहती थी जैसे सदा मन ही मन कुछ सोचा करती हो। मिनू को तो उसने इस प्रकार हिला लिया था जैसे वह उसी की बच्ची हो। उसका खुद का बच्चा पाँव-पाँव चलता और मिनू चलती उसकी गोदी पर। वह पानी भरती ता मिनू उसके साथ होती; दाल दलती तो मिनू उसके साथ और बरतन मलती तो मिनू भी उसके साथ छोटी-छोटी कटोरियाँ और गिलास मलती

दीख पड़ती। अन्त को बात इतनी बढ़ी कि वह मिनू को अपनी पीठ से बाँधकर झाड़ू देने लगी। उसका नाम था—लखिया।

लखिया और मिनू के इस स्नेह सम्बन्ध से, लखिया के बच्चे को जो अभाव ज्ञात हुआ उसकी पूर्ति मैं उसे मिनू के फल और मिठाइयाँ दे-देकर करने लगी। वह प्रायः मेरे ही पास खेला करता। फल और मिठाइयाँ खाने से इस बच्चे को और पानी भरने, बरतन मलने तथा बगीचा सींचने से मिनू को थोड़े ही दिनों में स्वास्थ्य का लाभ होता दिखाई पड़ा।

मैं बहुत सोचती थी कि यह लखिया कौन है! वह जेल क्यों आई! एक दिन अचानक मैंने मेट्टन से पूछा, जिसका उत्तर मिला—“ओह, ये बड़ी खतरनाक औरत है। इसने पुलिस को मारा है—पुलिस को। पर हमने उसका दिमाग ठीक कर दिया है। आपको कोई तकलीफ तो नहीं देती?”

अचानक मुझे उन बच्चों का खयाल आ गया। उनकी माँ भी तो पुलिस को मारने के कारण जेल भेजी गई थी और साथ भी तो एक छोटा बच्चा था। पृछना मैंने कई बार चाहा पर लखिया की गंभीर और उदास मुद्रा देखकर, हिम्मत मेरी एक बार भी न हुई।

एक दिन रात को खूब पानी बरसा। खूब दहाड़-दहाड़ कर बादल गरजे और कड़क-कड़ककर बिजली चमकी। मुझे अपने बच्चों की याद आ गई। छोटा लड़का डरा होगा। दूसरे पलंग पर सोने पर भी वह बादलों के गरजते ही मेरे पास आकर सो जाता था। इसके साथ मुझे उन तीनों बच्चों की भी याद आई जो वेचारे पुल के नीचे सोते थे। कहीं....आगे सोचने की मेरी हिम्मत न पड़ी। मैंने प्रार्थना की “हे ईश्वर सब माओं के बच्चों को अच्छी तरह रख और सबके बाद मेरे बच्चों की भी रक्षा कर।”

(४)

जेल में मेरे पास अखबार आया करते थे। जेल की सभी कैदी स्त्रियाँ लड़ाई की खबरें सुनने को उत्सुक रहा करती थीं। उन्हें विश्वास था कि एक दिन ऐसा होगा जब जेल के फाटक टूट जायँगे और अवधि से पहले ही उनका छुटकारा हो जायगा। मैं भी उन्हें योरप की लड़ाई और भारत के सत्याग्रह की खबरें सुना दिया करती थी।

उस दिन शाम को अखबार आया और पढ़ते-पढ़ते मेरा जी धक से रह गया ! जबलपुर की ही खबर थी—

‘कल रात एकाएक पानी बरसा और खूब बरसा। जेल के पास के नाले में तीन गरीब बच्चे बह गये। उन तीनों की लाशें मिली हैं। बहुत खोज करने पर भी उनकी शिनाख्त नहीं हो सकी। दो लड़कियाँ हैं और एक लड़का। ऐसा सुना गया है कि वे गाना गाकर भीख माँगा करते थे।’

मेरे घर पर आकर गानेवाले उन तीन बच्चों का चित्र हठात् मेरी आँखों के सामने खिंच गया और ऐसा जान पड़ा जैसे दूर से कोई गा रहा है—

“मैं तो डूबत हूँ मझधार पड़ी,
मोरी बैयाँ पकड़ के उठा लेना।”

अखबार रखकर मैं आँसू रोकने का प्रयत्न करने लगी। अचानक मेरे मुँह से निकल गया—‘बेचारे बच्चे !’

लखिया पास ही बैठी मेरे लिए चाय तैयार कर रही थी। उसने पूछा—“क्या खबर है, बाई साहब ? अरे, उदास क्यों हो गई ? बच्चों की याद आ रही है ?”

मैं उसे कुछ भी उत्तर न दे सकी। वह फिर बोली—“थोड़े

ही दिन तो और हैं, बाई साहब ! कट ही जायँगे । फिर बच्चे अपने बाप के साथ तो हैं, फिर क्यों करती हो ?”

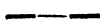
उसकी ओर देखने की मेरी हिम्मत नहीं थी पर मुझे ऐसा जान पड़ा जैसे उसने बात खतम हाते न होते एक गहरी साँस ली और आँखों के आँसू पोछ लिए । मैंने अपनी सब शक्ति संचित करके उससे पूछा—“लखिया, तेरे और बच्चे हैं, या यही एक है ?”

आँखों में आँसू और ओठों पर एक क्षीण मुस्कराहट के साथ वह बोली—“एक ही क्यों बाई साहब; (मेरी बच्ची की ओर इशारा करके) यह बिटिया भी तो है ।”

मैंने कहा—“ये तो जेल के भीतर हैं । जेल के बाहर कितने हैं ?”

लखिया एक गहरी साँस लेकर बोली—“जेल के बाहर बाई साहब ! वो तो भगवान के हैं—अपने कैसे कहूँ !”

और इसके बाद वह अखबार की खबर पूछती ही रह गई पर मैं उसे कुछ भी न बतला सकी ।



हिन्दी-साहित्य और मुसलमान कवि

पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी

[बख्शीजी का जन्म सन् १९६२ में खैरागढ़ (मध्यप्रदेश) में कायस्थ कुल में हुआ था । आप हिन्दी-साहित्य के सुप्रसिद्ध कहानी लेखक, कवि और समालोचक हैं । हिन्दी, अँगरेजी और बँगला इत्यादि भाषाओं

पर आपका पूर्ण रूप से अधिकार है। आपका अध्ययन बहुत उच्च कोटि का है। आपके गम्भीर अध्ययन की पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने बड़ी प्रशंसा की थी। आप प्रकृति के बड़े सरल और सादगी पसन्द व्यक्ति हैं।

बख्शीजी हिन्दी के विख्यात समालोचक और गम्भीर विद्वान् हैं। आपने समालोचना और साहित्य पर कई उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जब सरस्वती से अलग होने लगे, तब उसके सम्पादन का भार उन्होंने आप ही को सिपुर्द किया था। आपके सम्पादन-काल में सरस्वती की अच्छी उन्नति हुई। आपने विभिन्न विषयों पर सैकड़ों कविताएँ और स्फुट लेख लिखे हैं। आपके लेख हिन्दी-साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं।

आपकी शैली बड़ी परिमाजित और विद्वत्तापूर्ण है। धारा प्रवाह आपकी भाषा में खूब पाया जाता है। आप संस्कृत के तत्सम शब्दों ही का अधिकांश प्रयोग करते हैं। भाषा बड़ी ओजस्विनी और सजीव होती है।

हिन्दी साहित्य विमर्श, विश्वसाहित्य, प्रायश्चित्त, पंचपात्र आदि आपकी सुंदर रचनाएँ हैं।]

मुसलमानों का पहला आक्रमण सन् ६६४ में हुआ। उस समय मुसलमान मुलतान तक ही आकर लौट गये। उनका दूसरा आक्रमण ७११ में हुआ। तब उन्होंने सिन्धु देश पर अधिकार कर लिया था। परन्तु कुछ समय के बाद राजपूतों ने उनको वहाँ से हटा दिया। इसके बाद महमूद गजनवी का आक्रमण हुआ। सन् ११९३ से मुसलमानों का शासन-युग प्रारम्भ हुआ। उत्तर भारत में उनका साम्राज्य स्थापित हो जाने पर भादक्षिण में हिन्दू साम्राज्य बना रहा। विजयनगर का पतन होने पर कुछ समय के लिए समग्र भारत पर से हिन्दू साम्राज्य का लोप हो गया। परन्तु सत्रहवीं सदी में मरहटे प्रबल हुए और अन्त में उन्होंने फिर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना की।

इसी समय अँगरेजों का प्रभुत्व बढ़ा और कम ही समय में हिन्दू और मुसलमान दोनों को अँगरेजों का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि भारतवर्ष में मुसलमानों का साम्राज्य सन ११९३ से प्रारम्भ होता है तथापि कितने मुसलमान-साधक और फकीर इन आक्रमणकारियों के पहले ही यहाँ आ चुके थे। आठवीं सदी में जब मुसलमानों ने भारत का एक भाग विजय कर लिया तब तो हिन्दुओं और मुसलमानों में घनिष्ठता हो गई। उस समय मुसलमानों का अभ्युदय बढ़ रहा था। बगदाद विद्या का केन्द्र हो गया था; भारतीय विद्वान खलीफा के द्वारा तक जा पहुँचे। वहाँ उन लोगों की बदौलत संस्कृत के कितने ग्रन्थ-रत्नों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ। भारतवर्ष में मुसलमानों ने केवल अपनी प्रभुता ही स्थापित नहीं की, किन्तु अपने धर्म का भी प्रचार किया। तभी हिंदू और मुसलमान का विरोध आरम्भ हुआ। इस विरोध को दूर करने का सबसे अधिक प्रयत्न किया कबीर ने। कबीर ने देखा कि भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान विरोध बिलकुल अस्वाभाविक है।

कोई हिन्दू कोई तुरक कहावै एक जमीं पे रहिये।

वहाँ महादेव वहाँ मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये॥

वेद किताब पढ़ैं वे कुतबा वे मौलाना वे पाँडे।

विगत विगत कै नाम धरायो यक माटी के भाँडे॥

कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों का हाथ पकड़ कर एक ही पथ पर ले जाना चाहते थे। परन्तु दोनों इसका विरोध करते थे। कबीर को उनकी इस मूढ़ता—इस धर्मान्धता—पर आश्चर्य होता था। उन्होंने देखा कि इस विरोधाग्नि में पड़कर दोनों नष्ट हो जायँगे।

स्वदेश की कल्याण-कामना से प्रेरित हो कबीर उस पथ को खोज निकालना चाहते थे जिस पर हिन्दू और मुसलमान दोनों चलकर अपनी आत्मोन्नति कर सकें। उनका प्रयास व्यर्थ नहीं हुआ। हिन्दू और मुसलमान सम्मिलन की ओर अग्रसर हुए। भाषा के क्षेत्र में इनका सम्मिलन बहुत पहले हो चुका था। अमीर खुसरो ने एकता की नींव को दृढ़ किया। हिन्दी में कागज-पत्र, शादी-व्याह, खत पत्र, आदि शब्द उसी सम्मिलन के सूचक हैं। उसके बाद जायसी ने मुसलमानों को हिन्दी-साहित्य में सौन्दर्य का दर्शन कराया।

“तुरकी अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहि।

जामें मारग प्रेम का सवै सराहैं ताहि।”

मलिक मुहम्मद जायसी केवल कवि नहीं थे, साधक भी थे। हिन्दू और मुसलमान दोनों उनकी पूजा करते थे। कितने ही लोग उनके शिष्य थे। अतएव यह कहना नहीं होगा कि हिन्दी भाषा में रचना करके उन्होंने मुसलमानों को हिन्दू जाति से प्रेम करने की शिक्षा दी। जायसी के धार्मिक विचारों का आभास उनके ‘अखरावट’ से मिलता है। अपने धर्म में अविचल रहकर भी कोई दूसरे के धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देख सकता है, यही नहीं किन्तु वह उसमें सत्य का यथार्थ और अभिन्न रूप देख सकता है, यह बात जायसी की कृति से प्रकट होती है। हिन्दू भी मुसलमानों की तरह ईश्वर की सन्तान हैं, यही नहीं, उनका भी धर्म ईश्वर-प्रदत्त है। अतएव वे हमारी घृणा के पात्र नहीं। जायसी ने जो शिक्षायें दी हैं, उनमें से ऐसी कोई शिक्षा नहीं है जिसे कोई हिन्दू स्वीकार न कर सके।

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फकीरों ने की। भारत में राजकाय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान

दोनों प्रयत्न करते रहे परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत से मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों के धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्य युग में एक नवीन भारतीय कला की सृष्टि की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई। कृषकों का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी। देश में नवीन भाव का यथेष्ट प्रचार हो गया। अकबर के राजत्व-काल में इसका पूरा प्रभाव प्रकट हुआ। उसके शासन-काल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उसमें हिन्दू और मुसलमान का व्यवधान नहीं था। अकबर के महामन्त्री अबुलफजल ने एक हिन्दू मन्दिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है—“हे ईश्वर, सभी देव-मन्दिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते हैं। विश्व-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान धर्म भी तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते हैं कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मसजिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिर्जाघरों में तुम्हारे लिए घंटा बजाते हैं। एक दिन मैं मसजिद जाता हूँ और एक दिन गिर्जा, पर मन्दिर, मन्दिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्यों के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन।” अबुलफजल का यह उद्गार मध्य युग का नव सन्देश था। हिन्दी में सूरदास और तुलसीदास ने अपने युग की इसी भावना से प्रेरित हो मनुष्य-जीवन में श्रेष्ठ आदर्श दिखलाया। इसी भाव को ग्रहण कर मुसलमानों में रहीम ने कविता लिखी। निम्नलिखित पद्यों से प्रकट हो जाता है कि रहीम ने हिन्दू भाव को कितना अपना लिया था।

कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय ।
 पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होय ॥
 गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव ।
 रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाव ॥
 जो रहीम करिबो हुतो, ब्रज को इहै हवाल ।
 तौ काहे कर पर धरयो, गोवर्धन गोपाल ॥

मुगलों के शासन-काल में हिन्दी-साहित्य की जो भी वृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे । न तो हिन्दुओं ने तत्कालीन राज-भाषा की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिन्दी-साहित्य की । उस समय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने धार्मिक विरोध को भी हटाने की चेष्टा की । कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गये । इनमें रसखान की भक्ति ने हिन्दी में रस की धारा बहा दी है । उनका निम्नलिखित पद्य बड़ा प्रसिद्ध है—

मानुस हौं तो वही रसखान बसौं मिलि गोकुल गाँव के ग्वारन ।
 जो पशु होउँ कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मभारन ॥
 पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो ब्रज छत्र पुरन्दर कारन ।
 जो खग होउँ बसेरो करौं वही कालिंदी-कूल-कदम्ब की डारन ॥

मुसलमानों के लिए यह प्रेम कम साहस का काम नहीं था । ताज का यह कथन सर्वथा उचित था—

सुनौ दिलजानी, मेरे दिल की कहानी तुम
 दस्त ही बिकानी बदनामी भी सँझूँगी मैं ।

×

×

×

श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार
 तेरे नेह दाग में निदाग हूँ दहूँगी मैं ।

इसी प्रेम से प्रेरित हो कितने ही मुसलमान कवियों ने हिन्दी-साहित्य को अपनी रचनाओं से अलंकृत किया है।

राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान जाति का विरोध नहीं दूर हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का संघर्ष बना रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र में दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया।



१०—दे खुदा की राह पर !

[श्रीयुत चतुरसेन शास्त्री दिल्ली के रहनेवाले हैं। आप एक अच्छे वैद्य हैं। पर वैद्य के रूप में उतने प्रसिद्ध नहीं जितने सुलेखक के रूप में।

आपका साहित्यिक जीवन १९१४ से आरम्भ होता है। आपने कहानी, नाटक, उपन्यास एवं गद्यकाव्य आदि साहित्य के विभिन्न अंगों पर अपनी लेखनी का प्रयोग किया है। आपकी कहानियों में जो स्वाभाविकता पाई जाती है वह हिन्दी के विरले ही कवियों में मिलेगी। सरसता, सजीवता और हृदय-स्पर्शिता आदि इनकी कहानियों की विशेषताएँ हैं। आपकी कहानियों की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक होती है।

राजपूत बच्चे, अक्षत, रजकण आदि आपकी कई प्रकाशित रचनाएँ हैं।]

मैं उसे बहुत दिनों से उसी स्थान पर बैठा देखा करता था। वह जामे-मस्जिद की सीढ़ियों के नीचे, एक कोने में, बैठा रहता था। उसके हाथ में एक पुरानी ऊनी टोपी थी। उसी को वह भिक्षापात्र की

भाँति काम में लाता था। उसकी अवस्था ७० को पार कर गई थी, फिर भी वह खूब मजबूत दिखाई पड़ता था। उसका कंठ-स्वर सतेज और गंभीर था। उसके चेहरे पर एकाध चेचक के दाग थे। उसके मुँह से निकले हुए शब्द 'दे खुदा की राह पर!' ही सदा सुन पड़ते थे, दूसरे शब्द बोलना वह जानता था या नहीं, कह नहीं सकते। उससे कभी कोई बात नहीं करता था। बातें करने पर वह कभी जवाब भी नहीं देता था। लोग उसे बहुधा पैसे दे देते थे। पैसा टोपी में डालने पर किसी को उसने कभी आशीर्वाद नहीं दिया। परंतु उसके चेहरे के भाव, जो निरंतर अमिट रूप से बने रहते थे, देखकर अनायास ही मनुष्य की उस पर श्रद्धा हो जाती थी। संभव है, वह मन ही मन आशीर्वाद देता हो। बहुधा मैंने देखा था, लोग चुपके से उसके निकट जाते, पैसा उसकी टोपी में फेकते और धीरे से खिसक जाते थे। वह तो अपनी अनवरत गति से "दे खुदा की राह पर!" की आवाज थोड़ी थोड़ी देर बाद लगाता रहता था। घर से दफ्तर जाने का मेरा रास्ता जामे-मस्जिद होकर ही था। जामे-मस्जिद से मैं ट्राम पकड़ता था। वह सीढ़ियों के जिस नुक्कड़ पर बैठता था, वहाँ मैं ट्राम की प्रतीक्षा में खड़ा रहता था। उस समय ट्राम आने तक मैं उसके एकरस और एक सी भाव-भंगी से परिपूर्ण चेहरे को, आते-जाते तथा पैसा देनेवालों को और उनकी पोशाक-भावना को ध्यान से देखता रहता था। मुझे इसका कुछ चाव सा हो गया था।

मैंने उसे कभी कुछ नहीं दिया। एक पैसा देते हुए मुझे शर्म लगती थी। अधिक देते भी शर्म लगती थी। सभी तो पैसा देते थे, मेरा अधिक देना दंभ में सम्मिलित था। फिर मेरी आमदनी भी इतनी संक्षिप्त थी कि मैं अधिक दे नहीं सकता था। और, यह तो रोज का धंधा ठहरा।

(२)

वर्षा के दिन थे। दिन भर पानी बरसा था। दफ्तर जाती बार देखा, वह एक कोने में खड़ा भीग रहा है। उस दिन उसे इस प्रकार निरीह भीगता देखकर मन पर आघात लगा। जी में ऐसा हुआ कि इसके लिए कुछ तो करना ही चाहिए। दफ्तर से जब मैं लौटा, तब वह अपने स्थान पर बैठा था। बदली खुल गई थी। उस दिन मुझे दफ्तर से लौटते देर हो गई थी। अँधेरा होने लगा था। मैं क्षण भर रुककर उसकी ओर देखने लगा। वह अपने स्थान से उठा। उसने धीरे से, मानो वह आत्मनिवेदन कर रहा हो, कहा—“या खुदा, आज तो कुछ भी नहीं !”

उसने गंभीरता से अपनी दाढ़ी हिलाई, और अपनी लाठी टेकता हुआ चल दिया। मैं भी मंत्रमुग्ध की भाँति उसके पीछे हो लिया। मुझे उसके प्रति कौतूहल हो रहा था; क्योंकि उन सुपरिचित शब्दों के सिवा प्रथम बार ही मैंने उसके मुँह से निकलते ये शब्द सुने थे।

(३)

वह पतली और सँकरी गलियों को पार करता हुआ धीरे धीरे, उसी लाठी की आँखों से राह टटोलता हुआ, चला जा रहा था। पीछे पीछे मैं था। बस्ती का शानदार भाग पीछे छूट गया था। अब वह गरीबों के टूटे-फूटे घरों के पास गुजर रहा था। अंत में एक खंडहर के समान घर के द्वार पर वह खड़ा हो गया। उसने कुण्डी खटखटाई और एक किशोरी बालिका ने आकर द्वार खोल दिया। यद्यपि मैं कुछ दूर था; फिर भी मैंने उस सुकोमल मूर्ति को देख लिया। उसे देखकर आँखें हरी हो गईं। उन आँखों ने भी, मालूम होता है, मुझे देख लिया। यद्यपि उन दूध के समान स्वच्छ आँखों की दृष्टि पड़ते ही मेरी आँखें नीचे

को भुक गई थीं, फिर भी जैसे मेरा मूक निवेदन वहाँ तक पहुँच चुका था !

वृद्ध को इस बात का कोई ज्ञान न था कि मैं उसका पीछा कर रहा हूँ। वे दोनों भीतर चले गए। दरवाजा बंद हो गया। मैं फिर भी खड़ा कुछ सोचता ही रहा। यह अंधा बूढ़ा भिखारी कौन है; और इसके साथ यह अनिन्द्य सुंदरी बाला कौन है ?

मेरी दृष्टि बंद द्वार पर थी। द्वार खुला, वे ही आँखें एक बार दोलायमान होकर मेरे मुख पर अटक गईं। मैं चमत्कृत होकर देखने लगा। उसने संकेत से मुझे निकट बुलाया, और कहा—“आप बाबा से कुछ कहा चाहते हैं ?”

मैंने बिना सोचे ही जवाब दिया—“हाँ, मैं उनसे कुछ बात किया चाहता हूँ।”

“आप आइए।”

वह पीछे हट गई। मैं भीतर चला गया। मेरे भीतर आने पर उसने द्वार बंद कर लिया। भीतर से घर काफी बड़ा था। मकानियत तो कुछ न थी, मैदान काफी था। उसमें एक नीम का पेड़ भी था। घर हर तरह साफ था। वृद्ध फकीर एक चटाई पर चुपचाप बैठा था।

बालिका ने कहा—“बाबा, यह आए हैं।”

बूढ़े ने दोनों हाथ फैलाकर कहा—“आइए मेरे मिहरबान, मुझसे रजिया ने कहा कि आप मेरे पीछे-पीछे आ रहे थे, और दरवाजे पर खड़े थे। कहिए, मैं आपकी क्या खिदमत बजाला सकता हूँ। बैठिए।”

बालिका ने एक चटाई का टुकड़ा लाकर डाल दिया था। मैं उसी पर बैठ गया। मैंने कहा—“मैंने इस तरह आकर आपको जो तकलीफ दी, उसके लिए माफी चाहता हूँ। दर-असल मेरा कोई काम नहीं है। मगर मैं आपको अर्से से जामे-मस्जिद

पर देखता हूँ। मैंने आपको कभी कुछ नहीं दिया। लेकिन आज उठती बार आपके मुँह से यह सुनकर कि 'आज कुछ भी नहीं', मैं अपने को काबू में न रख सका। एक पैसा आप जैसे संजीदा बुजुर्ग के हाथ में रखते शर्म आती थी। ज्यादा की औकात नहीं। पर आज तो इरादा ही कर लिया, मगर हिम्मत न हुई कि आपको आवाज दूँ। यही सोचते सोचते यहाँ तक चला आया।"

बूढ़े ने संतोष से सारी बातें सुनीं। फिर उसने आकाश की ओर अपने दृष्टि-विहीन नेत्र फैलाकर कहा—“शुक्र है अल्लाह का ! दुनिया में आप जैसे भी फरिश्ता-खस्तत इन्सान हैं। खुदा आपको बरकत दे। आप शायद हिंदू हैं ?”

“जी हाँ” मैंने धीरे से कहा; और एक रुपया निकालकर बूढ़े के हाथ पर रख दिया।

रुपया हाथ से छूकर बूढ़े ने कहा—“खुदा आपको खुश रखे, मगर मैं अपने घर पर भीख नहीं लेता, खुदा के घर के कदमों पर बैठकर ही मैं भीख लेने की जुर्रत कर सकता हूँ, वह भी खुदा की राह पर। यहाँ तो मेरा फर्ज है कि मैं आपकी, जहाँ तक हो, मिहमाननमाजी करूँ।”

यह कह बूढ़े ने रुपया वापस मेरी तरफ सरका दिया। इसके बाद रजिया को पुकारकर कहा—“बेटी, इन मिहरबान की कुछ तवाजा तो जरूर करनी चाहिए। यह हिन्दू हैं, और कुछ तो न खायँगे, इलायचियाँ घर में हों, तो जरा ला दो बेटी !”

रजिया दो इलायचियाँ ले आई। वह घुटनों के बल मेरे सामने बैठ गई। उसने अपनी सुनहरी हथेली मेरे सामने फैला दी। उस पर दो इलायचियाँ धरी थीं। उसने मुस्कुराकर कहा—“इलायचियाँ लीजिए। घर में तश्तरी नहीं है।”

‘घर में तश्तरी नहीं है,’ ये शब्द उसने कंपित कंठ से कहे,

बूढ़े की आँखों में आँसू भर आए। उसने कहा—“तशतरी नहीं है, तो उसका रंज क्यों, बेटी !”

उसने फिर आँसू पोंछकर कहा—“मिहरबानमन, बिटिया की नजर कुबूल कीजिए, जिससे मेरी और मेरे खानदान की इज्जत बढ़े।”

मैंने इलायचियाँ ले लीं। मैं इस फेर में पड़ा, क्या सचमुच बूढ़े का कोई खानदान भी है !

रुपया देने के कारण मैं लज्जित हो रहा था। मैंने कहा—“मिहरबानी करके आप अपने कुछ हालात बतावेंगे, और कोई ऐसा काम भी, जिसे करके मैं आपकी कुछ खिदमत बजा लाऊँ ?”

बूढ़े ने कहा—“पिछले नौ वर्षों से—यह मैं आपसे आज बातें कर रहा हूँ—रजिया और मैं इतने दिनों से यहाँ अकेले रहते हैं। हम लोग न किसी से मिलते हैं, न कोई हमसे मिलता है। आपने आज अचानक आकर इस बूढ़े, अंधे, अपाहिज पर इतनी मिहरबानी की।” उसने झुककर मेरे दोनों हाथ चूम लिये।

रजिया ने आकर कहा—“बाबा ! आज खाने का क्या होगा ?”

बूढ़े ने दो पैसे टेंट से निकालकर कहा—“सिर्फ ये ही हैं ! एक पैसा तुम हस्ब मामूल दरगाह पर खैरात दे आओ, और एक पैसे के चने ले आओ। आज इन्हीं पर औकात-बसर होगी।”

रजिया चली गई। मैं बूढ़े के दृष्टि-हीन, तेजवान् मुँह को देखता रहा। फिर मैंने कहा—“रजिया क्या आपकी बेटी है ?”

“नहीं, पोती है। इसकी माँ इसके जन्मते ही मर गई थी। इसे मैंने इन्हीं हाथों से पाला है।”

“रजिया के वालिद शायद नहीं हैं ?”

“नहीं ।” बूढ़े का गला भरा गया । फिर उसने जरा खाँसकर कहा—“उसे मरे आज १४ साल हो गए ।” बूढ़े की दृष्टि हीन आँखें मानों कुछ देखने लगीं । उनमें पानी छलछला आया । उसने एक बार आकाश की ओर उन आँखों को उठाया, और फिर जमीन पर झुका दिया ।

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि बूढ़े का जीवन गम्भीर भेदों से परिपूर्ण है । परन्तु मुझे उससे कुछ पूछने का साहस नहीं हुआ । मैंने फिर कहा—“क्या मैं आपकी कोई खिदमत बजा ला सकता हूँ ?”

“मेरी कोई खिदमत ही नहीं है, मिहरबान ! मैं खुदा का एक अदना खिदमतगार हूँ ।” उसके ओठ काँपकर रह गए, मानो बलपूर्वक कुछ उसके मुख से निकल रहा था, वह उसने जबरदस्ती रोक लिया ।

रजिया लौट आई और, उसने भुने हुए चने बूढ़े के सामने, एक साफ कपड़े के टुकड़े पर, फैला दिए । बूढ़े ने पानी मँगाकर वजू किया, नमाज पढ़ी और फिर मेरे पास आकर कहा—“अगर एक मुट्ठी इसमें से आप कुबूल फर्मावें, तो मैं समझूँ कि अब भी मिहमाननमाजी करने के लायक हूँ ।” उसने चनों का रूमाल आगे बढ़ाया ।

मैंने थोड़े चने मुट्ठी में लेकर कहा—“मेरे बुजुर्ग, इन्हें मैं नियामत समझता हूँ ।”

रजिया पास आ बैठी । हम तीनों ने चने खाए । इसके बाद मैं उठ खड़ा हुआ । बूढ़े ने खड़े होकर मुझे बिदा किया, मेरा नाम पूछा और दुआ दी ।

मैं रोज उसे वहीं भीख माँगते देखता, पर कभी कुछ देने तथा बोलने का साहस न करता। हाँ, बीच बीच में मैं उसके घर घंटा दो घंटा जाकर बैठ आता था। उसका असली परिचय प्राप्त करने की मैंने बहुत चेष्टा की, पर न प्राप्त कर सका। अलबत्ता मुझे यह अवश्य मालूम हो गया कि बूढ़ा कोई बहुत ही बड़े खानदान का आदमी है।

चार साल गुजर गए। हम लोगों में बहुत घनिष्ठता बढ़ गई थी। बूढ़े का यह नियम था कि वह तमाम भीख में से आधी मजार पर खैरात कर देता था। यह मजार उसी की धर्मपत्नी का था, जिसे उसने कभी अपने प्राणों से भी ज्यादा प्यार किया था, और अब पूजा करता था। आधी भीख वह अपने और रजिया के काम में लाता था।

एकाएक मैंने देखा वह अब सीढ़ियों पर नहीं है। कई दिन बीत गए, आखिर मैं एक दिन उसके घर गया। देखा, बूढ़ा मृत्युशय्या पर पड़ा है, रजिया अकेली उसकी सेवा कर रही है।

रजिया अब १७ साल की अप्रतिम सुंदरी थी। परन्तु उसके सौंदर्य में चमेली के समान माधुर्य था—वह पवित्रता, गौरव और गंभीरता की केन्द्र-स्वरूप थी। उसके गुणों पर मैं मोहित था और मेरे मन में उसके प्रति आदर था। मेरी आयु यद्यपि ३० वर्ष के लगभग ही थी और मेरी पत्नी का जीवन के प्रारम्भ ही में देहांत हो गया था, फिर भी उसके प्रति प्रेम की भावना से देखने का मैं साहस न कर सका था। वह मुझे 'बड़े भाई' कहकर पुकारती थी।

मुझे देखते ही उसने मुझसे कहा—'बड़े भाई ! देखो, बाबा की क्या हालत हो गई है ! कई दिन से तुम्हें याद कर रहे हैं,

पर मैं इन्हें छोड़ अकेली इतनी दूर तुम्हारे घर नहीं जा सकती थी ।”

बूढ़े को होश हुआ, तो रजिया ने उसके पास जाकर कहा—“बाबा ! बड़े भाई आए हैं ।”

बूढ़े ने मेरी तरफ मुख किया । मैंने समझ लिया, अब चिराग बुझने में विलंब नहीं । मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—“ओफ ! आप इतने कमजोर हो गए ! मुझे खबर भी नहीं मिली ! आज तो आप मेरे मन की साध मिटा दीजिए, मुझे कुछ खिदमत करने का हुक्म दीजिए ।”

बूढ़े ने कम्पित स्वर में कहा—“अच्छा, तुम मेरी ओर से रजिया का एक काम कर दोगे ?” “बहुत खुशी से ।”—मैंने उत्सुकता से कहा । बूढ़े ने मंद स्वर से रजिया को कुछ संकेत किया । वह कोठरी के एक कोने से कपड़े में लपेटा एक पुलिदा ले आई । बूढ़े ने उसे अपने हाथ में ले, छाती से लगा, फिर मेरी तरफ बढ़ाते हुए कहा—“इन कागजों को सँभालकर रखना, जान से भी ज्यादा और जब रजिया १८ साल पार कर जाय, तब खोलना । इसमें जैसा लिखा है, वैसा ही करना । जबान दो, करोगे ?”

मैंने जबान दी । बूढ़े ने फिर कहा—“मेरे बाद रजिया यहाँ न रह सकेगी । उसे तुम जहाँ मुनासिब समझो, रखना, परन्तु अपनी हिफाजत से दूर नहीं । मगर यहाँ से निकलकर और मेरे बाद वह फकीरी हालत में न रह सकेगी ।” बूढ़े ने एक जड़ाऊ कंगन निकालकर दिया और कहा—“इसे बेचकर मेरी रजिया को आराम से रहने का बन्दोबस्त कर देना ।”

बूढ़ा कुछ देर चुप रहा । वह अपने हृदय में उबलते हुए तूफान को शांत कर रहा था । कुछ ठहरकर उसने मुझे और

रजिया को पास बुलाकर, दोनों के हाथ पकड़, अपनी छाती पर रखकर कहा—

“मेरे मिहरबान, तुम हिन्दू हो और रजिया मुसलमान, मगर खुदा की नजर में दोनों इन्सान हैं। मैं उम्मीद करता हूँ, तुम रजिया के लिए कभी बेफिक्र न होगे।”

कुछ ठहरकर कहा—“मेरे बच्चो, तुम लोग अपना नफा-नुकसान सोच लेना।”

हम दोनों सिर झुकाए बूढ़े की टूटी चारपाई के पास बैठे रहे। कुछ देर बाद बूढ़े ने कहा—“बड़े भाई, अब तुम रजिया को लेकर चले जाओ। मेरा वक्त नजदीक है, मेरी मिट्टी सरकार के आदमी सँगवा देंगे।” वह जोश में हाँफने लगा।

हम लोगों ने उसकी कुछ न सुनी। हम वहीं डटे रहे। तीन दिन बाद उसकी मृत्यु हुई।

रजिया मेरे घर रहने लगी। मेरी बूढ़ी मौसी देहात में रहती थी। उसे मैंने बुलाकर घर में रख लिया था। सुविधा के खयाल से मैंने रजिया का नाम कमला रख लिया था। मैंने वह कंगन बेचा नहीं। उसका मूल्य २० हजार से भी अधिक कूता गया था। रजिया ने कहा—“इस कंगन से दादा बातें किया करते थे। यह दादी का कंगन था।” मैंने भी उसे एक पूजनीय वस्तु समझा।

(५)

रजिया का १८ वाँ साल खतम हो गया। मैंने उस दिन रजिया को नई साड़ी पहनाई। फूलों का हार पहनाया। इसके बाद मैंने वह पुलिंदा खोला। उसमें कुछ कागजात थे, एक शाही मुहर थी, कुछ फर्मान थे और एक विवरण-पत्र था। उसे पढ़ने पर पता लगा, बूढ़ा सुलतान टीपू का बेटा खिजरखाँ था।

उसका बेटा—रजिया का पिता—युद्ध में मारा गया था। सरकार के साथ कुछ ऐसी संधियाँ थीं कि रजिया के १८ वर्ष की होने पर सरकार से उसे एक इलाका, जो उसके बाप का जन्त कर लिया गया था, मिलता। रजिया के जन्म और वंश का प्रमाण रजिया के गले के ताबीज में था। ताबीज खोल डाला गया।

समय पर सब कागजात हाईकोर्ट में दाखिल कर दिये गए। ६ मास बाद रजिया की जागीर मिल गई। इसकी आमदनी ५ लाख रुपया सालाना थी।

जागीर मिलने पर रजिया को लेकर मैं इलाके पर चला गया। वहाँ पर देखल वगैरः लेकर, सब व्यवस्था करके जब मैं चलने लगा, तो रजिया ने आँखों में आँसू भरकर, मेरा हाथ पकड़कर कहा—“अब जाओगे कहाँ ?”

मैंने कहा—“रजिया रानी, अब ‘बड़े भाई’ न कहोगी ?”

“नहीं !”—रजिया की आँखों में आँसू और ओठों में हँसी थी। वह लिपट गई।

मैंने कहा—“रजिया ! ‘बड़े भाई’ का कुछ लिहाज करो। दर्द सिर्फ तुम्हारे ही दिल में नहीं, दूसरी जगह भी है; पर जो हो गया, सो हो गया।”

रजिया ने बहुत समझाया, पर मैं न माना। मैंने कहा—“एक बार ‘बड़े भाई’ कह दो, तो जाऊँ।”

रजिया रोते रोते धरती में लोट गई। उसने कहा—“बड़े भाई फिर यहीं रहो; जाते कहाँ हो ?”

“बहन के घर कैसे रहूँ ?”

रजिया ने आँसू पोंछकर कहा—“तब जाओ—बड़े भाई !”

मैं घर चला आया। वहीं मेरी नौकरी थी। मेरे रोम रोम में रजिया थी, और रजिया के रोम रोम में 'बड़े भाई'।

❀

❀

❀

आज ३० साल इस घटना को हो गए हैं। रजिया की आयु ५० वर्ष की हो गई है, मैं ६३ को पार कर चुका हूँ। हम दोनों ने ब्याह नहीं किया। मैं साल में एक बार रजिया के घर जाता हूँ। उसकी सब आमदनी सार्वजनिक कामों में जाती है। सरकार से उसे बेगम की उपाधि मिली है।

मेरी नौकरी अभी चल रही है। बूढ़े शाहजादे का यह चित्र मैं सदैव अपने सामने रखता हूँ।

—

११—सागर और मेघ

राय कृष्णदास

[राय कृष्णदास जी का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य घराने में हुआ। आपमें काव्य-प्रतिभा के दर्शन बाल्य-काल में ही होने लगे थे। आप बँगला भाषा के अच्छे ज्ञाता हैं।

राय साहब में भाव-प्रकाशन तथा अनुभूतियों को प्रदर्शित करने की अपूर्व क्षमता है। आपकी गद्य-शैली व्यावहारिक है और रचनाओं में संगठन, चमत्कार, आकर्षण, उन्माद तथा लालित्य है। अपनी कला द्वारा आप कल्पना और स्वर्गीय विभूति के दर्शन कराते हैं। साधारण सी बात को आलंकारिक ढंग से कहने की आपमें पर्याप्त प्रतिभा है।

आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमें प्रवाल, छायापथ, साधना, सुधांशु और अनाख्या मुख्य हैं।]

सागर—मेरे हृदय में मोती भरे हैं।

मेघ—हाँ, वे ही मोती जिनका कारण है—मेरी बूँदें।

सागर—हाँ, हाँ, वही बारि जो मुझसे हरण किया जाता है। चोरी का गर्व।

मेघ—हाँ, हाँ, वही जिसको मुझसे पाकर बरसात की उमड़ी नदियाँ तुम्हें भरती हैं।

सागर—बहुत ठीक। क्या आठ महीने नदियाँ तुम्हें कर नहीं देती ?

मेघ—(मुसकराया) अच्छी याद दिलाई। मेरा बहुत सा दान वे पृथ्वी के पास धरोहर रख छोड़ती हैं, उसी से कर देने की निरंतरता कायम रहती है।

सागर—वाष्पमय शरीर ! क्या बढ़कर बातें करता है ? अंत को तुम्हें नीचे गिरकर मुझी में बिलाना पड़ेगा।

मेघ—खार की खान ! संसार भर से नीच ! सारी पृथ्वी के विकार ! तुम्हें मैं शुद्ध और मिष्ट बनाकर उच्चतम स्थान देता हूँ। फिर तुम्हें अमृतवारिधारा से तृप्त और शीतल करता हूँ। उसी का यह फल है।

सागर—हाँ, हाँ, दूसरे की करतूत पर गर्व। सूर्य का यश अपने पल्ले।

बादल—(अट्टहास करता है) क्यों, मैं चार महीने सूर्य को विश्राम जो देता हूँ। वह उसी के विनिमय में यह करता है। उसका यह श्रम मेरी संपत्ति है। वह तो बदले में केवल विश्राम का भागी है।

सागर—और मैं जो उसे रोज विश्राम देता हूँ।

मेघ—उसके बदले तो वह तेरा जल शोषण करता है।

सागर—तब भी मैं अपना व्रत नहीं छोड़ता।

मेघ—(इठलाकर) धन्य रे ब्रती, मानो श्रद्धापूर्वक तू सूर्य को वह दान देता हो । क्या तेरा जल वह हठात् नहीं हरता ?

सागर—(गंभीरता से) और बाढ़व जो मुझे नित्य जलाया करता है, तो भी मैं उसे छाती से लगाए रहता हूँ । तनिक उस पर तो ध्यान दो ।

मेघ—(मुसकरा दिया) हाँ, उसमें तेरा और कुछ नहीं, शुद्ध स्वार्थ है, क्योंकि वह तुझे यदि जलाता न रहे तो तेरी मर्यादा न रह जाय ।

सागर—(गरजकर) तो उसमें मेरी क्या हानि ! हाँ, प्रलय अवश्य हो जाय ।

मेघ—(एक साँस लेकर) आः ! यह हिंसा-वृत्ति । और क्या; मर्यादा-नाश क्या कोई साधारण बात है—

सागर—हो, हुआ करे । मेरा आयास तो बढ़ जायगा ।

मेघ—आः ! उच्छ्वलता की इतनी बड़ाई ?

सागर—अपनी ओर तो देख, जो बादल होकर आकाश भर में इधर से उधर मारा-मारा फिरता है ।

मेघ—धन्य तुम्हारा ज्ञान ! मैं यदि सारे आकाश में घूम-फिर के संसार का निरीक्षण न करूँ और जहाँ आवश्यकता हो जीवन-दान न करूँ तो रसा नीरसा हो जाय, उर्वरा से वंध्या हो जाय । तू नीचे रहनेवाला हम ऊपर रहनेवालों के इस तत्त्व को क्या जाने ।

सागर—यदि तू मेरे लिए ऊपर है तो मैं भी तेरे लिए ऊपर हूँ; क्योंकि हम दोनों का आकाश एक ही है ।

मेघ—हाँ, निस्संदेह ऐसी दलील वे ही लोग कर सकते हैं जिनके हृदय में कंकड़-पत्थर और शंख-घोंघे भरे हैं ।

सागर—बलिहारी तुम्हारी बुद्धि की, जो रत्नों को कंकड़-पत्थर और मोतियों को सीप-घोंघे समझते हो ।

मेघ—(बड़े वेग से गड़गड़ करके हँसता हुआ) तुम्हारे रत्न तो, तुम्हें मथकर, कभी के देवताओं ने निकाल लिये । अब तुम इन्हीं को रत्न समझे बैठे हो !

सागर—और मनुष्य जो इन्हें निकालने के लिए नित्य इतना श्रम करते हैं, तथा इतने प्राण खोते हैं ?

मेघ—वे अमीरों की झूठी स्पर्धा करने में मरे जाते हैं ।

सागर—अच्छा ! जिनका स्वरूप प्रतिक्षण बदला करता है उनकी दलील का कोटिक्रम ऐसा ही होता है ।

मेघ—और जो क्षण भर भी स्थिर नहीं रह सकते उनकी तर्कना का नमूना तुम्हारी बातें हैं, क्यों न ?

सागर—अरे, अपनी सीमा में रमने की मौज को अस्थिरता समझनेवाले मूर्ख ! तू ढेर सा हल्ला ही करना जानता है कि—

मेघ—हाँ, मैं गरजता हूँ तो बरसता भी हूँ । तू तो.....

सागर—यह भी क्यों नहीं कहता कि वज्र भी निपतित करता हूँ ।

बादल—हाँ आततायियों को समुचित दंड देने के लिए ।

सागर—कि स्वतंत्रों का पक्ष छेदन करके उन्हें अचल बनाने के लिए ।

बादल—हाँ, तू संसार को दलित करनेवाले उच्छङ्खलों का पक्ष क्यों न लेगा; तू तो उन्हें छिपाता है न !

सागर—मैं दीनों की शरण अवश्य हूँ !

बादल—सच है अपराधियों के संगी ! यही दीनों की सहायता है कि संसार को सदैव भ्रम में डाले रहना ।

सागर—दंड उतना ही होना चाहिए कि दंडित चेत जाय, उसे त्रास हो जाय । अगर वह अपाहिज हो गया तो...

बादल—हाँ, यह भी कोई नीति है कि आततायी नित्य अपना

सिर उठाना चाहे और शास्ता उसी की चिंता में नित्य शस्त्र लिये खड़ा रहे, अपने राज्य की कोई उन्नति न करने पावे ।

सागर—एक छोटे से मैनाक की इतने बड़े विश्व में क्या गिनती ।

बादल—जो अमल के एक बूँद की मनो दूध में । तू इस चात्रधर्म की सूक्ष्मता को क्या समझे ।

सागर—और तूने हाथ में नर-कंकाल का एक टुकड़ा ले लिया कि बड़ा बृहस्पति बन बैठा ।

बादल—आः सुरराज के शस्त्र की यह अवमानना ! तू तो साठ हजार मत्स्यों का द्रव है ।

सागर—तो क्या यह बात भी सत्य नहीं कि वज्र की रचना के लिए एक तपस्वी की हत्या कराई गई ?

बादल—हाँ, कुलिश ने अपनी उत्पत्ति से दधीचि की तपस्या सफल कर दी थी ।

सागर—तुम लोग जान ले लेना कोई बात ही नहीं समझते ?

बादल—हम हत्या, वध, आलभन, बलिदान, हिंसा, नाश आदि का विभेद जानते हैं । इन गहन विषयों को तू क्या समझे ?

सागर—मैं हत्यारों से बात नहीं करना चाहता ।

बादल—और मैं उन दुर्बल हृदयवालों से बात नहीं करना चाहता जो कायरता और कापुरुषता को धर्म-भीरुता मानते हैं ।

१२—ममता

जयशंकर “प्रसाद”

[बाबू जयशंकर ‘प्रसाद’ कान्यकुब्ज वैश्य थे । इनका जन्म सं०

१८४६ में काशी में हुआ और मृत्यु सं० १८६४ में। इन्होंने घर पर ही संस्कृत, फारसी, हिन्दी और अँगरेजी की शिक्षा पाई थी। पं० केदारनाथ पाठक के संसर्ग में बँगला का भी इन्होंने अच्छा अध्ययन किया था। इनकी शैली पर बँगला की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। यह छाप इनकी सब प्रकार की रचनाओं में विद्यमान है, पर कहीं भी यह बाहरी नहीं लगती। आपकी भाषा साधारणतः चलती हुई तथा विशुद्ध है। शुद्ध तत्सम एवं तद्भव शब्दों का प्रयोग तथा उर्दू शब्दों का बहिष्कार आपकी विशेषता सदा रही। संस्कृत की पदावली का प्रयोग करने से आपकी शैली में कहीं कहीं दुरुहता आ गई है। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने साहित्य का कोई अंग अछूता नहीं छोड़ा। इन्होंने अज्ञातशत्रु, स्कंदगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ आदि आधे दर्जन से अधिक नाटक लिखे हैं। कविताएँ भी इनकी बहुत हैं। इनकी कविताओं के छोटे-मोटे कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी कहानियाँ भी बड़ी रसीली होती थीं। समाज के विकृत स्वरूप का चित्रण ये बड़ी खूबी के साथ करते थे, पर उसमें कुसृचि नहीं आने पाती थी। इनके 'कंकाल' नामक उपन्यास में इनकी कहानियों के सब गुण विद्यमान हैं।]

रोहतास-दुर्ग के एक प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गम्भोर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आँधी, आँखों में पानी की बरसात लिये, वह सुख के कण्टक-शयन में विकल थी। वह रोहतास-दुर्गपति के मन्त्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिए कुछ अभाव होना असंभव था, परन्तु वह विधवा थी—हिंदू-विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है—तब उसकी विडम्बना का कहाँ अन्त था ?

चूड़ामणि ने चुपचाप उसके प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। शोण के

प्रवाह में, उसके कल-नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध थी। पिता का आना न जान सकी। चूड़ामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिए क्या करें, यह स्थिर न कर सकते थे। लौटकर बाहर चले गये। ऐसा प्रायः होता, पर आज मंत्री के मन में बड़ी दुश्चिन्ता थी ! पैर सीधे न पड़ते थे ।

एक पहर बीत जाने पर वे फिर ममता के पास आये। उस समय उनके पीछे दस सेवक चाँदी के बड़े थालों में कुछ लिये हुए खड़े थे; कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता ने घूम कर देखा। मन्त्री ने सब थालों को रखने का सङ्केत किया। अनुचर थाल रखकर चले गये।

ममता ने पूछा—“यह क्या है पिताजी ?”

“तेरे लिए बेटी ! उपहार है।”—कहकर चूड़ामणि ने उसका आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली सन्ध्या में विकीर्ण होने लगा। ममता चौंक उठी—

“इतना स्वर्ण ! यह कहाँ से आया ?”

“चुप रहो ममता, यह तुम्हारे लिए है।”

“तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया ? पिताजी ! यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिए। पिताजी ! हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे ?”

“इस पतनोन्मुख प्राचीन सामन्त वंश का अन्त समीप है। बेटी, किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है, उस दिन मन्त्रित्व न रहेगा, तब के लिए बेटी।”

“हे भगवान् ! तब के लिए ! विपद के लिए ! इतना आयोजन ! परम पिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस ! पिताजी, क्या भीख न मिलेगी ? क्या कोई हिन्दू भूगृष्ठ पर न बचा रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके ? यह असम्भव है।

फेर दीजिए पिताजी, मैं काँप रही हूँ—इसकी चमक आँखों को अन्धा बना रही है !”

“मूर्ख है”—कहकर चूड़ामणि चले गये ।

दूसरे दिन जब डोलियों का ताँता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण मन्त्री चूड़ामणि का हृदय धकधक करने लगा। वह अपने को रोक न सका । उसने जाकर रोहिताश्व-दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा । पठानों ने कहा—

“यह महिलाओं का अपमान करना है ।”

बात बढ़ गई । तलवारें खिंची, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा-रानी, कोष, सब छली शेरशाह के हाथ पड़े । निकल गई ममता । डोली में भरे हुए पठान सैनिक दुर्ग भर में फैल गये, पर ममता न मिली ।

काशी के उत्तर धर्मचक्र विहार, मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खण्डहर था । भग्न-चूड़ा, तृण-गुल्मों से ढके हुए प्राचीर, ईंटों के ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म रजनी की चंद्रिका में अपने को शीतल कर रही थी ।

जहाँ पञ्चवर्गीय भिक्षु गौतम का उपदेश ग्रहण करने के लिए मिले थे, उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया में एक भोपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी—

“अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते... ..”

पाठ रुक गया । एक भीषण और हताश आकृति दीप के मन्द प्रकाश में सामने खड़ी थी । स्त्री उठी, उसने कपाट बन्द करना चाहा । परन्तु उस व्यक्ति ने कहा—“माता ! मुझे आश्रय चाहिए ।”

“तुम कौन हो ?”—स्त्री ने पूछा ।

“मैं मुगल हूँ । चौसा युद्ध में शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूँ । इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूँ ।”

“क्या शेरशाह से !”—स्त्री ने अपने ओठ काट लिये ।

“हाँ माता !”

“परन्तु तुम भी वैसे ही क्रूर हो । वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिम्ब तुम्हारे मुख पर भी है ! सैनिक ! मेरी कुटी में स्थान नहीं; जाओ, कहीं दूसरा आश्रय खोज लो ।”

“गला सूख रहा है, साथी छूट गये हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ इतना ।”—कहते-कहते वह व्यक्ति धम से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्माण्ड घूमने लगा । स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई ! उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई । वह सोचने लगी—“सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करनेवाले आततायी ।”—घृणा से उसका मन विरक्त हो गया ।

स्वस्थ होकर मुगल ने कहा—“माता ! तो फिर मैं चला जाऊँ ?”

स्त्री विचार कर रही थी—“मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म—अतिथिदेव की उपासना का पालन करना चाहिए । परन्तु यह....नहीं, नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं । परन्तु यह दया तो नहीं....कर्त्तव्य करना है । तब ?”

मुगल अपनी तलवार टेककर उठ खड़ा हुआ । ममता ने कहा—“क्या आश्चर्य है कि तुम भी छल करो; ठहरो ।”

“छल ! नहीं, तब नहीं, स्त्री ! जाता हूँ । तैमूर बंशधर स्त्री से छल करेगा ! जाता हूँ । भाग्य का खेल है ।”

ममता ने मन में कहा—“यह कौन दुर्ग है ! यही भोपड़ी न; जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्त्तव्य करना पड़ेगा ।”—वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—“जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ । मैं ब्राह्मण कुमारी हूँ; सब अपना धम छोड़ दें, तो मैं भी

क्यों छोड़ दूँ ?” मुगल ने चन्द्रमा के मन्द प्रकाश में वह महिमामय मुखमण्डल देखा; उसने मन ही मन नमस्कार किया। ममता पास की टूटी हुई दीवारों में चली गई। भीतर थके पथिक ने भोपड़ी में विश्राम किया।

x

x

x

x

प्रभात में खण्डहर की सन्धि से ममता ने देखा, सैकड़ों अश्वारोही उस प्रान्त में घूम रहे हैं। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब उस भोपड़ी से निकलकर उस पथिक ने कहा—
“मिरजा ! मैं यहाँ हूँ।”

शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार ध्वनि से वह प्रान्त गूँज उठा। ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा—“वह स्त्री कहाँ है ? उसे खोज निकालो।” ममता छिपने के लिए अधिक सचेष्ट हुई। वह मृग-दाव में चली गई। दिन भर उसमें से न निकली। सन्ध्या में जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ, तो ममता ने सुना, पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा है—
“मिरजा ! उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उसका घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति में यहाँ विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।”—इसके बाद वे चले गये।

x

x

x

x

चौसा के मुगल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत बये। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी भोपड़ी में एक दिन पड़ी थी। शीतकाल का प्रभात था। उसका जीर्ण कङ्काल खाँसी से गूँज रहा था। ममता की सेवा के लिए गाँव की दो-तीन स्त्रियाँ

उसे घेरकर बैठी थीं, क्योंकि वह आजीवन सबके सुख-दुःख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा, एक स्त्री ने सीपी से जल पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उस भोपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन में कहने लगा—मिरजा ने जो चित्र बनाकर दिया है, वह तो इसी जगह का होना चाहिए। वह बुढ़िया मर गई होगी। अब किससे पूछूँ कि एक दिन शाहंशाह हुमायूँ किस छप्पर के नीचे बैठे थे ? यह घटना भी तो सैंतालीस वर्ष से ऊपर की हुई !”

ममता ने अपने विकल कानों से सुना। उसने पास की स्त्री से कहा—“उसे बुलाओ।”

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक-रुककर कहा—“मैं नहीं जानती कि वह शाहंशाह था, या साधारण मुगल, पर एक दिन इसी भोपड़ी के नीचे वह रहा। मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था। मैं आजीवन अपनी भोपड़ी खोदवाने के डर से भीतर ही थी ! भगवान् ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूँ। अब तुम इसका मकान बनाओ या महल—मैं अपने चिर-विश्रामगृह में जाती हूँ।”

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राणपत्नी अनन्त में उड़ गये।

×

×

×

×

वहाँ एक अष्टकोण मन्दिर बना, और उस पर शिलालेख लगाया गया—

“सार्तों देश के नरेश हुमायूँ ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उनकी स्मृति में यह गगनचुम्बी मन्दिर बनाया।” पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।

१३—ताज

महाराजकुमार रघुवीरसिंह

[महाराजकुमार रघुवीरसिंह जी सीतामऊ रियासत के महाराज के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आप एम० ए०, एल्-एल० बी० हैं। आपको ऐतिहासिक विषयों से बड़ा प्रेम है। उस सम्बन्ध के अनेक लेख तथा पुस्तकें आपने लिखी हैं। आपकी भाषा व शैली भावात्मक होती है।]

मनुष्य को स्वयं पर गर्व है। वह स्वयं को जगदीश्वर की अत्युत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति समझता है। वह अपने व्यक्तित्व को चिरस्थायी बनाना चाहता है। मनुष्य-जाति का इतिहास क्या है? उसके सारे प्रयत्नों का केवल एक ही उद्देश्य है। चिरकाल से मनुष्य यही प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार वह उस अप्राप्य अमृत को प्राप्त करे जिसे पीकर वह अमर हो जाय। किन्तु अभी तक उस अमृत का पता नहीं लगा। यही कारण है कि जब मनुष्य को प्रतिदिन निकटतम आती हुई रहस्यपूर्ण मृत्यु की याद आ जाती है तब उसका हृदय तड़पने लगता है। भविष्य में आनेवाले अंत के तथा उसके अनंतर अपने व्यक्तित्व के ही नहीं, सर्वस्व के विनष्ट होने के विचार-मात्र से ही मनुष्य का सारा शरीर सिहर उठता है। मनुष्य चाहता है कि किसी प्रकार वह इस अप्रिय सत्य को भूल जाय और उसे ही भुलाने के लिए, अपनी स्मृति से, अपने मस्तिष्क से उसे निकाल बाहर करने ही के लिए कई बार मनुष्य सुखसागर में मग्न होने की चेष्टा करता है। कई व्यक्तियों का हृदय तो इस विचार-मात्र से ही विकल हो उठता है कि समय के उस भयानक प्रवाह में वे स्वयं ही नहीं

किन्तु उनकी समग्र वस्तुएँ, स्मृतियाँ, स्मृति-चिह्न आदि सब कुछ बह जायेंगे; इस संसार में तब उनके सांसारिक जीवन का चिह्नमात्र भी न रहेगा और उनको याद करनेवाला भी कोई न मिलेगा। ऐसे मनुष्य इस भौतिक संसार में अपनी स्मृतियाँ—अमिट स्मृतियाँ—छोड़ जाने को विकल हो उठते हैं। वे जानते हैं कि उनका अन्त अवश्यंभावी है, किन्तु सोचते हैं कि संभव है, उनकी स्मृतियाँ संसार में रह जायँ। पिरेमिड, स्फिक, बड़े बड़े मकबरे, कीर्तिस्तंभ, कीर्तियाँ, विजयद्वार, विजय-तोरण आदि कृतियाँ मनुष्य की इसी इच्छा के फल हैं। एक तरह से देखा जाय तो इतिहास भी अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा का एक प्रयत्न है। या अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए मनुष्य ने भिन्न भिन्न प्रयत्न किये, किसी ने एक मार्ग का अवलंबन किया, किसी ने दूसरे का। कई एक विफल हुए, अनेकों के ऐसे प्रयत्नों का आज मानव-समाज की स्मृति पर चिह्न तक विद्यमान नहीं है। बहुतों के ऐसे प्रयत्नों के खँडहर आज भी सारे संसार में यत्र तत्र दिखाई देते हैं। वे आज भी मूक भाव से मनुष्य की इस इच्छा को देखकर हँसते हैं तथा रोते हैं। मनुष्य की विफलता पर तथा अपनी दुर्दशा पर वे आँसू गिराते हैं। परन्तु यह देखकर कि अभी तक मनुष्य अपनी विफलता को नहीं जान पाया, अभी तक उसकी वही इच्छा, उसकी वही आशा उसका पीछा नहीं छोड़ती है। मनुष्य अभी तक उन्हीं के चंगुल में फँसा हुआ है। वे मूक भाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृगतृष्णा पर विस्मित कर देनेवाला अट्टहास करते हैं।

परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क विधाता की एक अद्वितीय कृति है। यद्यपि समय के सामने किसी की नहीं चलती, तथापि कई एक मस्तिष्कों ने ऐसी खूबी से काम किया है, उन्होंने ऐसी चाल

चली हैं कि वे समय के उस प्रलयकारी भीषण प्रवाह को रोकने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने समय को अनुपम सौंदर्य के अदृश्य पाश में बाँध डाला, उसे अपनी कृतियों की अनोखी छटा दिखाकर लुभाया है; यों उसे भुलावा देकर कई बार मनुष्य अपनी स्मृति को ही नहीं किन्तु अपने भावों के स्मारकों को भी चिरस्थायी बना सका है। ताजमहल भी मानव-मस्तिष्क की ऐसी ही अद्वितीय सफलता का एक अद्भुत उदाहरण है।

×

×

×

×

वह अंधकार-मयी रात्रि थी। सारे विश्व पर घोर अंधकार छाया हुआ था, तो भी जग सोया न था। संसार का ताज, भारतीय साम्राज्य का वह सितारा, भारत-सम्राट् के हृदय-कुमुद का वह चाँद आज सर्वदा के लिए नष्ट होने को था। शिशु को जन्म देने में माता की जान पर आ बनी थी। अंतिम घड़ियाँ थीं। उन सुखमय दिनों का, प्रेम तथा सुख से पूर्ण छलकते हुए उस काल का अब अंत होनेवाला था। संसार कितना अचिरस्थायी है।

वह टिमटिमाता हुआ दीपक, भारत-सम्राट् के स्नेह का वह जलता हुआ चिराग, बुझ रहा था। अब भी स्नेह बहुत था, किन्तु अकाल काल का भोंका आया ! वह झिलमिलाती हुई लौ उसे सहन नहीं कर सकी। धीरे-धीरे प्रकाश कम हो रहा था; दुर्दिन की काली घटाएँ उस अँधेरी रात्रि के अंधकार को अधिक कालिमामय बना रही थीं; आशा-प्रकाश की अंतिम ज्योति-रेखाएँ निराशा के उस अंधकार में विलीन हो रही थीं। और तब... सब अँधेरा ही अँधेरा था।

इस सांसारिक यात्रा की अपनी सहचरी प्राण-प्रिया से अंतिम भेंट करने शाहजहाँ आया। जीवन-दीपक बुझ रहा था,

फिर भी अपने प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को देखकर पुनः एक बार लौ बढ़ी; बुझने से पहले की ज्योति हुई, मुमताज के नेत्र खुले। अंतिम मिलाप था। उन अंतिम घड़ियों में, उन आँखों के द्वारा क्या क्या मौनालाप हुआ होगा, उन दोनों प्रेमियों के हृदयों में कितनी उथल-पुथल मची होगी, उसका कौन वर्णन कर सकता है ? प्रेमाग्नि से धधकते हुए उन हृदयों की बातें लेखक की यह कठोर लेखनी काली स्याही से पुते मुँह से नहीं लिख सकती।

अंतिम क्षण थे, सर्वदा के लिए वियोग हो रहा था; देखती आँख शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत-सम्राट् हताश हाथ पर हाथ धरे बैठा किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से बिदा होने की तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमंगों पर, पाला पड़ रहा था। क्या क्या आशाएँ थीं, क्या क्या अरमान थे ? जब समय आया, उनके पूर्ण होने की आशा थी तभी एकाएक शाहजहाँ को उसकी जीवन-संगिनी ने छोड़ दिया। ज्योंही सुख-मदिरा का प्याला ओठों को लगाया कि वह प्याला गिर पड़ा, चूर-चूर हो गया और वह सुख-मदिरा मिट्टी में मिल गई, पृथ्वीतल में समा गई, सर्वदा के लिए अदृष्ट हो गई।

हाय ! अंत हो गया, सर्वस्व लुट गया। परम प्रेमी, जीवन का एक-मात्र साथी सर्वदा के लिए छोड़कर चल बसा। भारत-सम्राट् शाहजहाँ की प्रेयसी, सम्राज्ञी मुमताजमहल सदा के लिए इस लोक से बिदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट् था, जहाँ का शाह था, परन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से नहीं रोक सका। दार्शनिक कहते हैं, जीवन एक बुदबुदा है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला-मात्र है।

वे यह भी कहते हैं कि इस जीवन का संग तथा वियोग क्या है, एक प्रवाह में साथ बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों के साथ तथा विलग होने के समान है। परन्तु क्या ये विचार एक संतप्त हृदय को शान्त कर सकते हैं ? क्या ये भावनाएँ चिरकाल की विरहाग्नि में जलते हुए हृदय को सांत्वना प्रदान कर सकती हैं ? सांसारिक जीवन की व्यथाओं से दूर बैठा हुआ, सांसारिक जीवन-संग्राम का एक तटस्थ दर्शक भले ही कुछ भी कहे, किन्तु जीवन के इस भीषण संग्राम में युद्ध करते हुए, सांसारिक घटनाओं के कठोर थपेड़े खाते हुए, हृदयों की क्या दशा होती है, वह एक भुक्तभोगी ही कह सकता है।

×

×

×

×

वह चली गई, सर्वदा के लिए चली गई। अपने रोते हुए प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को, अपने झिलखते हुए प्यारे बच्चों को तथा समग्र दुखी संसार को छोड़कर, उस अधियारी रात में न जाने वह कहाँ चली गई। चिरकाल का वियोग था शाहजहाँ की आँख से एक आँसू ढलका, उस संतप्त हृदय से एक आह निकली।

वह सुन्दर शरीर पृथ्वी की भेंट हो गया; अगर कुछ शेष रहा तो उसकी वह सुखप्रद स्मृति तथा उस स्मृति पर, उसके उस चिरवियोग पर, आहें तथा आँसू। संसार लुट गया और उसे पता भी न लगा। संसार की वह सुन्दर मूर्ति, मृत्यु के अदृश्य क्रूर हाथों, चूर्ण हो गई। और उस मूर्ति के वे भग्नावशेष जगन्माता पृथ्वी ने उन्हें अपने अंचल में समेट लिया।

शाहजहाँ के वे आँसू तथा वे आहें विफल न हुईं। उन तब आँखों तथा उस धधकते हुए हृदय से निकलकर वे इस बाह्य जगत् में आए थे। वे भी समय के साथ सर्द होने लगे। समय

के ठंडे भोंकों के थपेड़े खाकर उन्होंने एक ऐसा सुंदर स्वरूप धारण किया कि आज भी न जाने कितने आँसू ढलक पड़ते हैं और न जाने कितने हृदयों में हलचल मच जाती है। अपनी प्रेयसी के वियोग पर बहाए गए शाहजहाँ के वे आँसू चिरस्थायी हो गए।

सब कुछ समाप्त हो गया था, किंतु अब भी कुछ आशा शेष रही थी। शाहजहाँ का सर्वस्व लुट गया था, तो भी उस स्तब्ध रात्रि में अपनी मृत्युन्मुख प्रियतमा के प्रति उस अंतिम भेंट के समय किए गए अपने प्रण को वह नहीं भूला था। उसने सोचा कि अपनी प्रेयसी की यादगार में, भारत के ही नहीं संसार के उस चाँद की उन शुष्क हड्डियों पर एक ऐसी कब्र बनावे कि वह संसार के मकबरों का ताज हो। शाहजहाँ को सूझी कि अपनी प्रेयसी को स्मृति को तथा उसके प्रति अपने अगाध शुद्ध प्रेम को स्वच्छ, श्वेत, स्फटिक के सुचारु स्वरूप में व्यक्त करे।

धीरे धीरे भारत की उस पवित्र महानदी यमुना के तट पर एक मकबरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक चबूतरा बनाया गया, उस पर सफेद संगमरमर का ऊँचा चबूतरा निर्माण किया गया, जिसके चारों कोनों पर चार मीनार बनाए गए जो बेतार के तार से, चारों दिशाओं में उस सम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे हैं तथा उसका यशोगान करते हैं। मध्य में शनैः शनैः मकबरा उठा। यह मकबरा भी उस श्वेत वर्णवाली सम्राज्ञी के समान श्वेत तथा उसी के समान सौंदर्य में अनुपम तथा अद्वितीय था। अंत में उस मकबरे को एक अतीव सुंदर किंतु महान् गुंबज का ताज पहनाया गया।

पाठको ! उस सुंदर मकबरे का वर्णन पार्थिव जिह्वा नहीं कर सकती, फिर बेचारी जड़ लेखनी का क्या कहना ! अनेक शताब्दियाँ बीत गईं, भारत में अनेकानेक साम्राज्यों का उत्थान

और पतन हुआ। भारत की वह सुंदर कला तथा महान् समाधि के निर्माणकर्ता भी समय के इस अनंत गर्भ में न जाने कहाँ विलीन हो गए; परंतु आज भी वह मकबरा खड़ा हुआ, अपने सौंदर्य से संसार को लुभा रहा है। वह शाहजहाँ की उस महान् साधना का, अपनी प्रेमिका के प्रति अनन्य तथा अगाध प्रेम का फल है। वह कितना सुंदर है ! आँखें ही देख सकती हैं, हृदय ही उसकी सुंदरता का अनुभव कर सकता है। संसार उसकी सुंदरता को देखकर स्तब्ध है। शाहजहाँ ने अपनी मृता प्रियतमा की समाधि पर अपने प्रेम की अंजलि अर्पण की तथा भारत ने अपने महान् शिल्पकारों और चतुर कारीगरों के हाथों शुद्ध प्रेम की इस अनुपम और अद्वितीय समाधि को निर्माण करवाकर पवित्र प्रेम की वेदी पर जो अपूर्व श्रद्धांजलि अर्पित की उसका सानी इस भूतल पर खोजे नहीं मिलता।

x

x

x

x

बरसों के परिश्रम के बाद अंत में मुमताज का वह मकबरा पूर्ण हुआ। शाहजहाँ की वर्षों की साध पूरी हुई। एक महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। जब इस मकबरे के पूर्ण होने पर शाहजहाँ पूरे समारोह के साथ उसे देखने गया होगा, आगरे के लिए वह दिन कितना गौरवपूर्ण हुआ होगा ! इतिहासकारों ने उस दिन का—भारत की ही नहीं, संसार की शिल्पकला के इतिहास के उस महान् दिवस का—वर्णन कहीं नहीं किया है। कितने सहस्र नर-नारी आबाल-वृद्ध उस दिन उस अपूर्व मकबरे के—संसार की उस महान् कृति के—दर्शनार्थ एकत्र हुए होंगे ? उस दिन मकबरे को देखकर भिन्न भिन्न दर्शकों के हृदयों में कितने विभिन्न भाव उत्पन्न हुए होंगे ? किसी को इस महान् कृति की पूर्ति पर हर्ष हुआ होगा, किसी ने यह देखकर गौरव का अनुभव किया

होगा कि उनके देश में एक ऐसी वस्तु का निर्माण हुआ है, जिसकी तुलना करने के लिए संसार में कदाचित् ही दूसरी कोई वस्तु मिले; कई एक उस मकबरे की छवि को देखकर मुग्ध हो गए होंगे; न जाने कितने चित्रकार उस सुंदर कृति को अंकित करने के लिए ही दौड़ पड़े होंगे, न जाने कितने कवियों के मस्तिष्कों में क्या क्या अनोखी सूझें पैदा हुई होंगी।

परन्तु सब दर्शकों में से एक दर्शक ऐसा भी था जिसके हृदय में भिन्न भिन्न विपरीत भावों का घोर युद्ध हुआ था। दो आँखें ऐसी भी थीं जो बाह्य सुन्दरता को चीरती हुई, एकटक उस कब्र पर ठहरती थीं। वह दर्शक था शाहजहाँ, वे आँखें थीं शाहजहाँ की आँखें। जिस समय शाहजहाँ ने ताज के उस अद्वितीय दरवाजे पर खड़े होकर उस समाधि को देखा होगा उस समय उसके हृदय की क्या दशा हुई होगी, सो वर्णन करना अतीव कठिन है। उसके हृदय में शान्ति हुई होगी कि वह अपनी प्रियतमा के प्रति किए गए अपने प्रण को पूर्ण कर सका। उसको गौरव का भी अनुभव हो रहा होगा कि उसकी प्रियतमा की कब्र—अपनी उस जीवन-संगिनी की यादगार—ऐसी बनी कि उसका सानी शायद ही मिलें। किंतु उस जीवित मुमताज के स्थान पर अपनी जीवन-संगिनी की शुष्क हड्डियों पर यह कब्र—वह कब्र कैसी ही सुन्दर क्यों न हो—पाकर शाहजहाँ के हृदय में जलती हुई चिरवियोग की अग्नि क्या शांत हो गई होगी? क्या श्वेत सर्द पत्थर का वह सुन्दर मकबरा मुमताज की मृत्यु के कारण हुई कमी को पूर्ण कर सकता था? मकबरे को देखकर शाहजहाँ की आँखों के सम्मुख उसका सारा जीवन, जब मुमताज के साथ वह सुखपूर्वक रहता था, सिनेमा की फिल्म के समान दिखाई दिया होगा। प्रियतमा मुमताज की

स्मृति पर पुनः आँसू ढलके होंगे, पुनः सुप्त स्मृतियाँ जाग उठी होंगी और पुनः चोट खाए हुए उस हृदय के वे पुराने घाव हरे हो गए होंगे।

पाठको ! जब आज भी कई एक दर्शक उस पवित्र समाधि को देखकर दो आँसू बहाए बिना नहीं रह सकते तब आप ही स्वयं विचार कर सकते हैं कि शाहजहाँ की क्या दशा हुई होगी। अपने जीवन में बहुत कुछ सुख प्राप्त हो चुका था, और रहे-सहे सुख की प्राप्ति होने को थी, उस सुखपूर्ण जीवन का मध्याह्न होने ही वाला था कि उस जीवन-सूर्य को ग्रहण लग गया और ऐसा लगा कि वह जीवन-सूर्य अस्त होने तक ग्रसित ही रहा। ताजमहल उस ग्रसित-सूर्य से निकली हुई अद्भुत सुन्दरता-पूर्ण तेजोमयी लपटों का एक घनीभूत सुन्दर पुंज है, उस ग्रसित सूर्य की एक अनोखी स्मृति है।

x

x

x

x

शताब्दियाँ बीत गईं। शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देखकर रोया होगा। मरते समय भी वह उस सुन्दर सुम्नन बुर्ज में शय्या पर पड़ा ताजमहल को देख रहा था। और आज भी न जाने कितने मनुष्य उस अद्वितीय समाधि के उद्यान में बैठे घण्टों उसे निहारा करते हैं। न जाने कितने उस उद्यान में बैठे प्रेमपूर्ण जीवन के नष्ट होने की उस स्मृति पर, अचिरस्थायी मानव-जीवन की उस करुण कथा पर, रोते हैं। न जाने कितने यात्री दूर दूर देशों से बड़े बड़े भयंकर समुद्र पार कर उस समाधि को देखने के लिए खिंचे चले आते हैं। वे कितनी उमंगों से आते हैं, और उससे भरते हुए ही चले जाते हैं। कितने हर्ष से आते हैं, किन्तु दो आँसू बहाकर ही जाते हैं। प्रकृति भी प्रतिवर्ष चार मास तक इस अद्वितीय प्रेम के भंग होने की करुण स्मृति पर रोती है।

मनुष्य-जीवन की, मनुष्य के उस दुःखपूर्ण जीवन की—जहाँ मनुष्य की कई वासनाएँ अतृप्त रह जाती हैं, जहाँ मनुष्य के प्रेम के बंधन बँधने भी नहीं पाते कि काल के कराल हाथों पड़कर टूट जाते हैं—मनुष्य के उस करुण जीवन की स्मृति—उसकी अतृप्त वासनाओं तथा खिलते हुए प्रेमपुष्प की वह समाधि—आज भी यमुना के तीर पर खड़ी है। शाहजहाँ का वह साम्राज्य, उसका वह तख्त-ताऊस, उसका वह महान् घराना, शाही जमाने का वह गौरव, आज सब कुछ विलीन हो गया—समय के कठोर भोकों में पड़कर वे सब आज नष्ट हो गए। ताजमहल का वह वैभव, उसमें जड़े हुए वे रत्न भी न जाने कहाँ चले गए, किंतु आज भी ताजमहल अपनी सुन्दरता से समय को लुभाकर उसे भुलावा दे रहा है और यों मानव-जीवन की उस करुण कथा को चिरस्थायी बनाए हुए है। वैभव से विहीन ताज का यह विधुर स्वरूप उसे अधिक सोहता है।

आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज आती है—“मैं भूला नहीं हूँ।” आज भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रतिवर्ष उस सम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है; वे कठोर पत्थर भी प्रतिवर्ष उस सुन्दर सम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की इस करुण कथा का देख, पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से एक आँसू ढलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी को धारा समाधि को चूमती हुई उस भग्न मानव-जीवन की करुण कथा अपने प्रेमा सागर को सुनाने के लिए दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न हृदय की कथा याद कर कभी कभी यमुना नदी का हृदय-प्रदेश उमड़ पड़ता है और उसके हृदय में भी आँसुओं की बाढ़ आ जाती है।

उन श्वेत पत्थरों से आवाज आती है—“आज भी मुझे उसकी स्मृति है।” आज भी उस खिलते हुए प्रेम-पुष्प का

सौरभ—उस प्रेम-पुष्प का जो अकाल में ही डंठल से टूट पड़ा—
उन पत्थरों में रम रहा है। वह टूटा हुआ पुष्प सूख गया, उसका
भौतिक स्वरूप इस लोक में रह गया, परंतु उस सुन्दर पुष्प की
आत्मा विलीन हो गई, अनंत में अंतर्हित हो गई। अपने अनंत
के पथ पर अग्रसर होती हुई वह आत्मा उस स्वलित पुष्प को
छोड़कर चली गई; केवल पत्थर की उस सुन्दर किन्तु त्यक्त
समाधि में उसकी स्मृति विद्यमान है। यों शाहजहाँ ने उस
निराकार मृत्यु को अक्षय सौंदर्य-पूर्ण स्वरूप प्रदान किया।
मनुष्य के अचिरस्थायी प्रेम को, प्रेमाग्नि की उस धधकती हुई
अग्नि को चिरस्थायी बनाया।



१४—महाराणा प्रतापसिंह

रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

[रायबहादुर महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का जन्म
सं० १६२० में सिरौही राज्य के रोहिडा गाँव में हुआ था। आप हिन्दी
और संस्कृत के बड़े विद्वान् हैं और अंगरेजी का भी ज्ञान रखते हैं। आप
आजकल अजमेर-अजायबघर के सुपरिंटेंडेंट हैं। प्राचीन खोज के लिए
आप बहुत प्रसिद्ध हैं। आपका जन्म इसी विभाग में काम करते हुए
बीता है। आपने प्राचीन-लिपि-माला नामक ग्रंथ लिखकर हिन्दी का
मस्तक ऊँचा किया है। इस ग्रंथ पर आपको हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन से
(१९००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है। आप राजस्थान के
इतिहास में प्रमाण समझे जाते हैं। राजपूताने के प्राचीन इतिहास
पर आप बराबर प्रकाश डालते रहे हैं। आपने राजपूताने के

सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास का खोज पूर्ण तथ्यों सहित संपादन किया है। यह निबन्ध इसी इतिहास का एक अंश है।]

प्रातःस्मरणीय हिन्दूपति वीरशिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह का नाम राजपूताने के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद है। राजपूताने के इतिहास को इतना उज्ज्वल और गौरवमय बनाने का अधिक श्रेय उसी को है। वह स्वदेशाभिमानी, स्वतंत्रता का पुजारी, रण-कुशल, स्वार्थत्यागी, नीतिज्ञ, दृढ़-प्रतिज्ञ, सच्चा वीर और उदार क्षत्रिय तथा कवि था। उसका आदर्श था कि बापा रावल का वंशज किसी के आगे सिर नहीं झुकाएगा। स्वदेशप्रेम, स्वतंत्रता और स्वदेशाभिमान उसके मूल मंत्र थे। उसको अपने वीर पूर्वजों के गौरव का गर्व था। वह कहा करता था कि यदि महाराणा साँगा और मेरे बीच कोई और न होता तो चित्तौड़ कभी मुसलमानों के हाथ न जाता। वह ऐसे समय मेवाड़ की गद्दी पर बैठा जब कि उसकी राजधानी चित्तौड़ और प्रायः सारी समान भूमि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। मेवाड़ के बड़े-बड़े सरदार भी पहले की लड़ाइयों में मारे जा चुके थे। ऐसी स्थिति में इसके विरुद्ध बादशाह अकबर ने उसका विध्वंस करने के लिए अपने संपूर्ण साम्राज्य का बुद्धिबल, बाहुबल और धनबल लगा दिया था। बहुत से राजपूत राजा भी अकबर के ही सहायक बने हुए थे। यदि महाराणा चाहता तो वह भी उनकी तरह अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता तथा अपने वंश की पुत्री उसे देकर साम्राज्य में एक प्रतिष्ठित पद पर आराम से रह सकता था, परंतु वह स्वतंत्रता का पुजारी केवल थोड़े से स्वदेशभक्त और कर्तव्यपरायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने देश

की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गया। उसकी वीरता, रणकुशलता, कष्टसहिष्णुता और नीतिमत्ता अत्यंत प्रशंसनीय और अनुकरणीय थी। इन्हीं गुणों के कारण वह अकबर को, जो उस समय संसार का सबसे अधिक शक्तिशाली तथा ऐश्वर्यसंपन्न सम्राट् था, अपने छोटे से राज्य के बल पर वर्षों तक हैरान करता रहा और फिर भी अधीन न हुआ। अकबर ने उसे अधीन करने के लिए बहुत से प्रयत्न किए, अपने योग्य सेनापतियों को कई बार उस पर भेजा, एक बार स्वयं भी चढ़ आया, परंतु राणा के आगे एक भी चढ़ाई में उसका मनोरथ पूर्ण न हुआ। राणा ने बादशाह के आगे सिर न झुकाया और न उसे बादशाह ही कहा। उसने मेवाड़ के उपजाऊ प्रदेश को उजाड़ दिया, खेती नष्ट करवा दी और शाही फौज की रसद तथा व्यापार का मार्ग रोककर नीतिज्ञता का परिचय दिया। वह केवल वीर और रणकुशल ही नहीं, किंतु धर्म को समझनेवाला सच्चा क्षत्रिय था। केवल शिकार के लिए कुछ सिपाहियों के साथ आते हुए मानसिंह पर धोखे और छल से हमला न कर और अमरसिंह द्वारा पकड़ी गई बेगमों को सम्मानपूर्वक लौटाकर उसने अपनी विशालहृदयता का परिचय दिया। प्रलोभन देकर राजपूत राजाओं और सरदारों को सेवक बनानेवाली अकबर की कूटनीति का यदि कोई उत्तर देनेवाला था तो महाराणा प्रताप ही।

उक्त महाराणा के विषय में कर्नल टाड का कथन है—
अकबर की उच्च महत्त्वाकांक्षा, शासननिपुणता और असीम साधन, ये सब बातें दृढ़चित्त महाराणा प्रताप की अदम्य वीरता, कीर्ति को उज्ज्वल रखनेवाले दृढ़ साहस और किसी अन्य जाति में न पाया जावे ऐसे निष्कपट अध्यवसाय को दबाने में पर्याप्त न थी। आल्पस् पर्वत के समान अर्बली में कोई भी ऐसी

घाटी नहीं जो प्रताप के किसी न किसी वीर-कार्य, उज्ज्वल विजय या उससे अधिक कीर्तियुक्त पराजय से पवित्र न हुई हो। हल्दीघाटी मेवाड़ की थर्मोपिली और दिवेर मेवाड़ का मरेथान है।

वीर-श्रेष्ठ महाराणा के कार्य आज भी मेवाड़ की एक एक उपत्यका में वर्तमान समय के से जान पड़ते हैं। आज भी उसके वीर-कार्यों की कथाएँ और गीत प्रत्येक वीर राजपूत के हृदय में उत्तेजना पैदा करते हैं। महाराणा का नाम न केवल राजपूताने में किंतु संपूर्ण भारतवर्ष में अत्यंत आदर और श्रद्धा से लिया जाता है। अँगरेजी तथा भारतवर्ष की प्रायः सभी भाषाओं में प्रताप के वीरत्व और यशोगान के अनेक ग्रंथ बन चुके हैं और बनते जा रहे हैं। भारत के भिन्न भिन्न विभागों में महाराणा की जयंती भी मनाई जाने लगी। जब तक संसार में वीरों की पूजा रहेगी, तब तक महाराणा का उज्ज्वल और अमर नाम लोगों को स्वतंत्रता और देशाभिमान का पाठ पढ़ाता रहेगा। खेद है कि ऐसे वीर महाराणा का मेवाड़ में अब तक कोई स्मारक नहीं बना।

महाराणा का कद लंबा, आँखें बड़ी, चेहरा भरा हुआ और प्रभावशाली, मूँछें बड़ी, छाती चौड़ी, बाहु विशाल और रंग गेहूँआ था। वह पुराने रिवाज के अनुसार दाढ़ी नहीं रखता था।

—

१५—घीसा

महादेवी वर्मा

[महादेवी वर्मा का जन्म फर्रुखाबाद के प्रतिष्ठित बाबू गोविन्दप्रसाद

जी एम० ए०, एल-एल्० बी० के घराने में १९०७ में हुआ। आपने सन् १९३३ में संस्कृत में एम० ए० पास किया और उसी वर्ष प्रयाग महिला विद्यापीठ, इलाहाबाद में प्रिन्सिपल के पद को सुशोभित किया।

आपकी बचपन से ही कविता की ओर विशेष रुचि रही है। आरम्भ में तो आपने ब्रजभाषा में कविता लिखी किन्तु श्री 'गुप्त' जी की खड़ी बोली की कविता से प्रभावित हो आपने भी खड़ी बोली को अपनाया और रचना आरम्भ की। आधुनिक हिन्दी-कवियों में जो लोक-प्रियता आपको प्राप्त हुई वह बहुत कम कवियों को प्राप्त है।

महादेवीजी की कविता स्वाभाविक, सुबोध एवं भावमय होती है। आपकी त्रिलक्षण शैली पाठकों के हृदय-पटल पर चित्र को अङ्कित सा कर देती है। गीत लिखने में जैसी सफलता आपको मिली वैसी और किसी को नहीं। आपके 'नीहार' और 'रश्मि' नामक संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

कवयित्री होने के साथ-साथ इन्हें हिन्दी-गद्य के ऊपर भी वही अधिकार प्राप्त है जो गद्य पर है। समय समय पर आप संस्करण के रूप में कुछ रेखाचित्र भी लिखती रहती हैं जो कहानियों के रूप में हैं। इन रेखाचित्रों के संग्रह 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' नाम से प्रकाशित हुए हैं। आपकी शैली धारावाहिक होती है।]

वर्तमान की कौन-सी अज्ञात प्रेरणा हमारे अतीत की किसी भूली हुई कथा को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ दोहरा जाती है, यह जान लेना सहज होता तो मैं भी आज गाँव के उस मलिन सहमे नन्हें से विद्यार्थी की सहसा याद आ जाने का कारण बता सकती जो एक छोटी लहर के समान ही मेरे जीवन-तट को अपनी सारी आर्द्रता से छूकर अनन्त जल-राशि में विलीन हो गया है।

गंगा-पार भूँसी के खंडहर और उनके आस-पास के गाँवों

के प्रति मेरा अकारण आकर्षण रहा है। उसे देखकर ही सम्भवतः लोग जन्म-जन्मांतर के सम्बन्ध का व्यंग्य करने लगे हैं। है भी तो आश्चर्य की बात ! जिस अवकाश के समय को लोग इष्ट-मित्रों से मिलने, उत्सवों में सम्मिलित होने तथा अन्य आमोद-प्रमोद के लिए सुरक्षित रखते हैं उसी को मैं इस खंडहर और उसके क्षत-विक्षत चरणों पर पछाड़ें खाती हुई भागीरथी के तट पर काट ही नहीं, सुख से काट देती हूँ।

दूर पास बसे हुए, गुड़ियों के बड़े बड़े घरौंदों के समान लगनेवाले कुछ लिपे-पुते, कुछ जीर्ण-शीर्ण घरों से स्त्रियों का जो झुण्ड पीतल-ताँबे के चमचमाते, मिट्टी के नये लाल और पुराने बदरङ्ग घड़े लेकर गंगाजल भरने आता है उसे भी मैं पहचान गई हूँ। उनमें कोई बूटेदार लाल, कोई निरी काली, कोई कुछ सफेद और कोई मैले सूत में अद्वैत स्थापित करनेवाली, कोई कुछ नई और कोई छेदों से चलनी बनी हुई धोती पहने रहती हैं। किसी की मोम लगी पाटियों के बीच में एक अंगुल चौड़ी सिंदूर-रेखा अस्त होते हुए सूर्य की किरणों में चमकती रहती है और किसी की कढ़वे तेल से भी अपरिचित रूखी जटा बनी हुई छोटी-छोटी लट्टें मुख को घेरकर उसकी उदासी को और अधिक केन्द्रित कर देती हैं। किसी की साँवली गोल कलाई पर शहर की कच्ची नगदार चूड़ियों के नग रह रह कर हीरे से चमक जाते हैं और किसी की दुर्बल कलाई पर लाख की पीली मैली चूड़ियाँ काले पत्थर पर मटमैले चन्दन की मोटी लकीरें जान पड़ती हैं। कोई अपने गिलट के कड़े-युक्त हाथ घड़े को ओट में छिपाने का प्रयत्न-सा करती रहती है और कोई चाँदी के पछेली-ककना की झनकार के ताल के साथ ही बात करती है। किसी के कान में लाख की पैसेवाली तरकी धोती से कभो-कभो झूँक भर लेता है और किसी की टारें लम्बो जंतोर

से गला और गाल एक करती रहती हैं। किसी के गुदना गुदे गेहुँए पैरों में चाँदी के कड़े सुडौलता की परिधि-सी लगते हैं और किसी की फैली अँगुलियों और सफेद एँड़ियों के साथ मिली हुई स्याही राँगे और काँसे के कड़ों को लोहे की साफ की हुई बेड़ियाँ बना देती हैं।

वे सब पहले हाथ-मुँह धोती हैं फिर पानी में कुछ घुसकर घड़ा भर लेती हैं।—तब घड़ा किनारे रख सिर पर इँडुरी ठीक करती हुई मेरी ओर देखकर कभी मलिन, कभी उजली, कभी दुःख की व्यथाभरी, कभी सुख की व्यथा भरी मुस्कान से मुस्करा देती हैं। अपने मेरे बीच का अन्तर उन्हें ज्ञात है, तभी कदाचित् वे इस मुस्कान के सेतु से उसका वार-पार जोड़ना नहीं भूलतीं।

गवालों के बालक अपनी चरती हुई गाय-भैंसों में से किसी को उस ओर बहकते देखकर ही लकुटी लेकर दौड़ पड़ते हैं, गड़रियों के बच्चे अपने भुंड की एक भी बकरी या भेड़ को उस ओर बढ़ते देखकर कान पकड़कर खींच ले जाते हैं और व्यर्थ दिन भर गिल्ली-डंडा खेलनेवाले निठल्ले लड़के भी बीच-बीच में नजर बचा कर मेरा रुख देखना नहीं भूलते।

उस पार शहर में दूध बेचने जाते या लौटते हुए ग्वाले, किले में काम करने जाते या घर आते हुए मजदूर, नाव बाँधते या खोलते हुए मल्लाह कभी-कभी 'चुनरी त रँगाउब लाल मजीठी हो' गीत गाते मुझ पर दृष्टि पड़ते ही अकचका कर चुप हो जाते हैं। कुछ विशेष सभ्य होने का गर्व करनेवालों से मुझे एक सलज्ज नमस्कार भी प्राप्त हो जाता है।

कह नहीं सकती, कब और कैसे मुझे उन बालकों को कुछ सिखाने का ध्यान आया। पर जब बिना कार्यकारिणी के निर्वाचन के, बिना पदाधिकारियों के चुनाव के, बिना भवन के, बिना चंदे की अपील के और सारांश यह कि बिना किसी चिर-

परिचित समारोह के मेरे विद्यार्थी पीपल के पेड़ की घनी छाया में मेरे चारों ओर एकत्र हो गये तब मैं बड़ी कठिनाई से गुरु के उपयुक्त गम्भीरता का भार वहन कर सकी।

और वे जिज्ञासु कैसे थे सो कैसे बताऊँ ! कुछ कानों में बालियाँ और हाथ में कड़े पहने धुले कुरते और ऊँची मैली धोती मैं नगर और ग्राम का सम्मिश्रण जान पड़ते थे, कुछ अपने बड़े भाई का पाँच तक लम्बा कुरता पहने हुए खेत में डराने के लिए खड़े किये हुए नकली आदमी का स्मरण दिलाते थे, कुछ उभरी पसलियों, बड़े पेट और टेढ़ी दुर्बल टाँगों के कारण अनुमान से ही मनुष्य संतान की परिभाषा में आ सकते थे और कुछ अपने दुर्बल रूखे और मलिन मुखों की करुण सौम्यता और निष्प्रभ पीली आँखों में संसार भर की अपेक्षा बटोरे बैठे थे। पर घीसा उनमें अकेला ही रहा और आज भी मेरी स्मृति में अकेला ही आता है।

वह गोधूली मुझे अब तक नहीं भूली। सन्ध्या के लाल सुनहली आभावाले उड़ते हुए दुकूल पर रात्रि ने मानो छिपकर अंजन की मूठ चला दी थी। मेरा नाववाला कुछ चिन्तित-सा लहरों की ओर देख रहा था; बूढ़ी भक्तिन मेरी किताबें, कागज, कलम आदि सँभालकर नाव पर रखकर बढ़ते अन्धकार पर खिम्ताकर बुदबुदा रही थी या मुझे कुछ सनकी बनानेवाले विधाता पर यह समझना कठिन था। बेचारी मेरे साथ रहते-रहते दस लम्बे वर्ष काट आई है, नौकरानी से अपने आपको एक प्रकार की अभिभाविका मानने लगी है, परन्तु मेरी सनक का दुष्परिणाम सहने के अतिरिक्त उसे क्या मिला है ! सहसा ममता से मेरा मन भर आया, परन्तु नाव की ओर बढ़ते हुए मेरे पैर, फैलते हुए अन्धकार में से एक स्त्री-मूर्ति को अपनी ओर आते देख ठिठक रहे। साँवले कुछ लम्बे-से मुखड़े में पतले स्याह होठ

कुछ अधिक स्पष्ट हो रहे थे। आँखें छोटी, पर व्यथा से आर्द्र थीं। मलिन बिना किनारी की गाढ़े की धोती ने उसके सलूकारहित अंगों को भली भाँति ढँक लिया था, परन्तु तब भी शरीर की सुडौलता का आभास मिल रहा था। कन्धे पर हाथ रखकर वह जिस दुर्बल अर्धनग्न बालक को अपने पैरों से चिपकाये हुए थी, उसे मैंने सन्ध्या के भुटपुटे में ठीक से नहीं देखा।

स्त्री ने रुक-रुककर कुछ शब्दों और कुछ संकेतों में जो कहा, उससे मैं केवल यह समझ सकी कि उसके पति नहीं हैं, दूसरों के घर लीपने-पोतने का काम करने वह चली जाती है और उसका यह अकेला लड़का ऐसे ही घूमता रहता है। मैं इसे भी और बच्चों के साथ बैठने दिया करूँ तो यह कुछ तो सीख सके। दूसरे इतवार को मैंने उसे सबसे पीछे अकेले एक ओर दुबक कर बैठे हुए देखा। पक्का रंग, पर गठन में और अधिक सुडौल मलिन मुख जिसमें दो पीली पर सचेत आँखें जड़ी सी जान पड़ती थीं। कसकर बन्द किये हुए पतले होठों की दृढ़ता और सिर पर खड़े हुए छोटे-छोटे रूखे बालों की उग्रता उसके मुख की संकोच-भरी कोमलता से विद्रोह कर रही थी। उभरी हुई हड्डियोंवाली गर्दन को सँभाले हुए झुके कन्धों से रक्त-हीन मटमैली हथेलियों और टेढ़े-मेढ़े कटे हुए नाखूनोंयुक्त हाथोंवाली पतली बाँहें ऐसी भूलती थीं जैसे ड्रामा में विष्णु बननेवाले की दो नकली भुजाएँ। निरन्तर दौड़ते रहने के कारण उस लजीले शरीर में दुबले पैर ही विशेष पुष्ट जान पड़ते थे।—बस ऐसा ही था वह घीसा। न नाम में कवित्व की गुञ्जाइश, न शरीर में।

पर उसकी सचेत आँखों में न जाने कौन सी जिज्ञासा भरी थी। वे निरन्तर घड़ी की तरह खुली मेरे मुख पर टिकी ही रहती

थीं। मानो मेरी सारी विद्या-बुद्धि को सोख लेना ही उनका ध्येय था।

लड़के उससे कुछ खिंचे-खिंचे से रहते थे। इसलिए नहीं कि वह कोरी था। वरन् इसलिए कि किसी की माँ, किसी की नानी, किसी की बुआ आदि ने घीसा से दूर रहने की नितान्त आवश्यकता उन्हें कान पकड़-पकड़कर समझा दी थी। —यह भी उन्हीं ने बताया और बताया घीसा के सबसे अधिक कुरूप नाम का रहस्य। बाप तो जन्म से पहले ही नहीं रहा। घर में कोई देखने-भालनेवाला न होने के कारण माँ उसे बँदरिया के बच्चे के समान चिपकाये फिरती थी। उसे एक ओर लिटाकर जब वह मजदूरी के काम में लग जाती थी, तब पेट के बल घसिट-घसिटकर बालक संसार के प्रथम अनुभव के साथ-साथ इस नाम की योग्यता भी प्राप्त करता जाता था।

फिर धीरे-धीरे अन्य स्त्रियाँ भी मुझे आते-जाते रोककर अनेक प्रकार की भावभंगिमा के साथ एक विचित्र सांकेतिक भाषा में घीसा की जन्मजात अयोग्यता का परिचय देने लगीं। क्रमशः मैंने उसके नाम के अतिरिक्त और कुछ भी न जाना।

उसका बाप था तो कोरी, पर बड़ा ही अभिमानी और भला आदमी बनने का इच्छुक था। डलिया आदि बुनने का काम छोड़कर वह थोड़ी बड़ईगरी सीख आया और केवल इतना ही नहीं, एक दिन चुपचाप दूसरे गाँव से युवती बधू लाकर उसने अपने गाँव की सब सजातीय सुन्दरी बालिकाओं को अपेक्षित और उनके योग्य माता पिता को निराश कर डाला। मनुष्य इतना अन्याय सह सकता है, परन्तु ऐसे अवसर पर भगवान् की असहिष्णुता प्रसिद्ध ही है। इसी से जब गाँव के चौखट किवाड़ बनाकर और ठाकुरों के घरों में सफेदी करके उसने कुछ ठाट-घाट से रहना आरम्भ किया तब अचानक हैजे

के बहाने वह वहाँ बुला लिया गया। जहाँ न जाने का बहाना न उसकी बुद्धि सोच सकी, न अभिमान। पर स्त्री भी कम गर्वीली न निकली। गाँव के अनेक विधुर और अविवाहित कोरियों ने केवल उदारतावश ही उसकी जीवन-नैया पार लगाने का उत्तरदायित्व लेना चाहा, परन्तु उसने केवल कोरा उत्तर ही नहीं दिया, प्रत्युत उसे नमक-मिर्च लगाकर तोता भी कर दिया। कहा 'हम सिंह के मेहरारू होइके का सियारन के जाव।' और बिना स्वर-ताल के आँसू गिराकर, बाल खोलकर, चूड़ियाँ फोड़कर और बिना किनारे की धोती पहनकर जब उसने बड़े घर की विधवा का स्वाँग भरना आरम्भ किया तब तो सारा समाज क्षोभ के समुद्र में डूबने-उतराने लगा। उस पर घीसा बाप के मरने के बाद दुआ है। हुआ तो वास्तव में छः महीने बाद, परन्तु उस समय के सम्बन्ध में क्या कहा जाय जिसका कभी एक क्षण वर्ष-सा बीतता है और कभी एक वर्ष क्षण हो जाता है। इसी से वह छः माह का समय रबर की तरह खिंच-कर एक साल की अवधि तक पहुँच गया तो इसमें गाँववालों का क्या दोष।

यह कथा अनेक क्षेपकोमय विस्तार के साथ सुनाई तो गई थी मेरा मन फेरने के लिए और मन फिरा भी, परन्तु किसी सनातन नियम से कथावाचकों की ओर न फिर कथा के नायकों की ओर फिर गया और इस प्रकार घीसा मेरे और अधिक निकट आ गया। वह अपना जीवन-सम्बन्धी अपवाद कदाचित् पूरा नहीं समझ पाया था, परन्तु अधूरे का भी प्रभाव उस पर न था क्योंकि वह सबको अपनी छाया से इस प्रकार बचाता रहता था मानो उसे कोई छूत की बीमारी हो।

पढ़ने, उसे सबसे पहले समझने, उसे व्यवहार के समय स्मरण रखने, पुस्तक में एक भी धब्बा न लगाने, स्लोट को

चमचमाती रखते और अपने छोटे काम का उत्तरदायित्व बड़ी गम्भीरता से निभाने में उसके समान कोई चतुर न था। इसी से कभी-कभी मन चाहता कि उसकी माँ से उसे माँग ले जाऊँ और अपने पास रखकर उसके विकास की उचित व्यवस्था कर दूँ—परन्तु उस उपेक्षित, पर मानिनी विधवा का वही एक सहारा था। वह अपने पति का स्थान छोड़ने पर प्रस्तुत न होगी, यह भी मेरा मन जानता था और उस बालक के बिना उसका जीवन कितना दुर्बल हो सकता है, यह भी मुझसे छिपा न था। फिर नौ साल के कर्त्तव्य-परायण घीसा की गुरु भक्ति देखकर उसकी मातृ-भक्ति के सम्बन्ध में कुछ सन्देह करने का स्थान ही नहीं रह जाता था और इस तरह घीसा वहीं और उन्हीं कठोर परिस्थितियों में रहा जहाँ क्रूरतम नियति ने केवल अपने मनोविनोद के लिए ही उसे रख दिया था।

शनिश्चर के दिन ही वह अपने छोटे दुर्बल हाथों से पीपल की छाया को गोबर मिट्टी से पीला चिकनापन दे आता था। फिर इतवार को माँ के मजदूरी पर जाते ही एक-एक मैले फटे कपड़े में बँधी मोटी रोटी और कुछ नमक या थोड़ा चबेना और एक डली गुड़ बगल में दबाकर, पीपल की छाया को एक बार फिर झाड़ने बुहारने के पश्चात् वह गंगा के तट पर आ बैठता और अपनी पीली सतेज आँखों पर क्षीण साँवले हाथ की छाया कर दूर-दूर तक दृष्टि को दौड़ाता रहता। जैसे ही उसे मेरी नीली सफेद नाव की झलक दिखाई पड़ती वैसे ही वह अपनी पतली टाँगों पर तीर के समान उड़ता और बिना नाम लिये ही साथियों को सुनाने के लिए गुरु साहब गुरु साहब कहता हुआ फिर पेड़ के नीचे पहुँच जाता जहाँ न जाने कितने बार दुहराये-तिहराये हुए कार्यक्रम की एक अन्तिम आवृत्ति आवश्यक हो उठती। पेड़ की नीची डाल पर रखी हुई मेरी शीतल-

पाटी उतारकर बारम्बार झाड़-पोंछकर बिछाई जाती, कभी काम न आनेवाली सूखी स्याही से काली कच्चे काँच की दावात अपने टूटे निब और उखड़े हुए रंगवाले भूरे कलम के साथ पेड़ के कोटर से निकालकर यथास्थान रख दी जाती और इस विचित्र पाठशाला का विचित्र मन्त्री और निराला विद्यार्थी कुछ आगे बढ़कर मेरे सप्रणाम स्वागत के लिए प्रस्तुत हो जाता ।

महीने में चार ही दिन मैं वहाँ पहुँच सकती थी और कभी कभी काम की अधिकता से एक-आध छुट्टी का दिन और भी निकल जाता था, पर उस थोड़े से समय और इने-गिने दिनों में भी मुझे उस बालक के हृदय का जैसा परिचय मिला, वह चित्रों के एल्बम के समान निरन्तर नवीन-सा लगता है ।

मुझे आज भी वह दिन नहीं भूलता जब मैंने बिना कपड़ों का प्रबन्ध किये हुए ही उन बेचारों को सफाई का महत्त्व समझाते-समझाते थका डालने की सूर्यता की । दूसरे इतवार को सब जैसे के तैसे ही सामने—केवल कुछ गंगाजी में मुँह इस तरह धो आये थे कि मैल अनेक रेखाओं में विभक्त हो गई थी, कुछ ने हाथ-पाँव ऐसे धिसे धिसे कि शेष मलिन शरीर के साथ में अलग जोड़े से हुए लगते थे और कुछ 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी' की कहावत चरितार्थ करने के लिए कीट से मैले फटे कुरते घर ही छोड़कर ऐसे अस्थिपंजरमय रूप में आ उपस्थित हुए थे जिसमें उनके प्राण 'रहने का आश्चर्य है 'गये अचम्भा कौन' की घोषणा करते जान पड़ते थे । पर घीसा गायब था । पृछने पर लड़के काना-फूसी करने या एक साथ सभी उनकी अनुपस्थिति का कारण सुनने को आतुर होने लगे । एक एक शब्द जोड़-तोड़कर समझाना पड़ा कि घीसा माँ से कपड़ा धोने के साबुन के लिए तभी से कह रहा था—

माँ को मजदूरी के पैसे मिलें नहीं और दूकानदार ने अनाज लेकर साबुन दिया नहीं। कल रात को माँ को पैसे मिले और आज सबेरे वह सब काम छोड़कर पहले साबुन लेने गई। अभी घीसा कपड़े धो रहा है, क्योंकि गुरु साहब ने कहा था कि नहा-धोकर साफ कपड़े पहनकर आना; और अभागों के पास करड़े ही क्या थे ! किसी दयावती का दिया हुआ एक पुराना कुरता जिसकी एक आस्तीन आधी थी और एक अँगौछा-जैसा फटा टुकड़ा। जब घीसा नहाकर गीला अँगौछा ही लपेटे और आधा भीगा कुरता पहने अपराधी के समान मेरे सामने आ खड़ा हुआ तब आँखें ही नहीं मेरा, रोम-रोम गीला हो गया। उस समय समझ में आया कि द्रोणाचार्य ने भील शिष्य से अँगूठा कैसे कटवा लिया था।

एक दिन न जाने क्या सोचकर मैं उन विद्यार्थियों के लिए ५-६ सेर जलेबी ले गई; पर कुछ तौलनेवाले की सफाई से, कुछ तुलवानेवाले की समझदारी से और कुछ वहाँ की छीना-भपटी के कारण प्रत्येक को पाँच से अधिक न मिल सकी। एक कहता था कि मुझे एक कम मिली, दूसरे ने बताया मेरी अमुक ने छीन ली, तीसरे को घर में सोते हुए छोटे भाई के लिए चाहिए, चौथे को किसी की और याद आ गई। पर इस कोला-हल में अपने हिस्से की जलेबियाँ लेकर घीसा कहाँ खिसक गया, यह कोई न जान सका। एक नटखट अपने साथी से कह रहा था—‘मार एक ठो पिलवा पाले है ओही को देय गवा होई’ पर मेरी दृष्टि से संकुचित होकर चुप रह गया। और तब तक घीसा लौटा ही। उसका सब हिसाब ठीक था—जलखई-वाले छत्रे में तीन जलेबियाँ लपेटकर वह भाई के लिए छप्पर में खोस आया है, एक उसने अपने पाले हुए, बिना माँ के कुत्ते के पिल्ले को खिला दी और दो स्वयं खा लीं। और चाहिए पूछने

पर उसकी संकोचभरी आँखें झुक गईं—ओंठ कुछ हिले। पता चला कि पिल्ले को उससे कम मिली है। दें तो गुरु साहब पिल्ले को ही एक और दे दें।

और होली के पहले की एक घटना तो मेरी स्मृति में ऐसे गहरे रंगों से अंकित है जिसका धुल सकना सहज नहीं। उन दिनों हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य धीरे-धीरे बढ़ रहा था और किसी दिन उसके चरम सीमा तक पहुँच जाने की पूर्ण संभावना थी। धीसा दो सप्ताह से ज्वर में पड़ा था—दवा मैं भिजवा देती थी परन्तु देख-भाल का कोई ठीक प्रबन्ध न हो पाता था। दो-चार दिन उसकी माँ स्वयं बैठी रही, फिर एक अन्धी बुढ़िया को बैठाकर काम पर जाने लगी।

इतवार की साँझ को मैं यथाक्रम बच्चों को बिदा दे धीसा को देखने चली; परन्तु पीपल से पचास पग पहुँचते न पहुँचते उसी को डगमगाते पैरों पर गिरते-पड़ते अपनी ओर आते देख मेरा मन उद्विग्न हो उठा। वह तो इधर पन्द्रह दिन से उठा ही नहीं था, अतः मुझे उसके सन्निपात-ग्रस्त होने का ही सन्देह हुआ। उसके सूखे शरीर में तरल विद्युत् सी दौड़ रही थी, आँखें और भी सतेज और मुख ऐसा था जैसे हल्की आँच में धीरे-धीरे लाल होनेवाला लोहे का टुकड़ा।

पर उसके वात ग्रस्त होने से भी अधिक चिन्ताजनक उसकी समझदारी की कहानी निकली। वह प्यास से जाग गया था, पर पानी पास मिला नहीं और अन्धी मनियाँ की आजी से माँगना ठीक न समझ कर चुपचाप कष्ट सहने लगा। इतने में मुल्लू के कक्का ने पार से लौटकर दरवाजे से ही अन्धी को बताया कि शहर में दंगा हो रहा है और तब उसे गुरु साहब का ध्यान आया। मुल्लू के कक्का के हटते ही वह ऐसे हौले-हौले उठा कि बुढ़िया को पता ही न चला और कभी दीवार का,

कभी पेड़ का सहारा लेता-लेता वह इस ओर भागा। अब वह गुरु साहब के गोड़ धरकर यहीं पड़ा रहेगा, पर पार किसी तरह भी न जाने देगा।

तब मेरी समस्या और भी जटिल हो गई। पार तो मुझे पहुँचना था ही, पर साथ ही बीमार घीसा को ऐसे समझाकर जिससे उसकी स्थिति और गम्भीर न हो जाय। पर सदा के संकोची, नम्र और आज्ञाकारी घीसा का इस दृढ़ और हठी बालक में पता ही न चलता था। उसने पारसाल ऐसे ही अवसर पर, हताहत दो मल्लाह देखे थे और कदाचित् इस समय उसका रोग से विकृत मस्तिष्क उन चित्रों में और गहरा रङ्ग भरकर मेरी उलझन को और उलझा रहा था। पर उसे समझाने का प्रयत्न करते-करते अचानक ही मैंने एक ऐसा तार छू दिया जिसका स्वर मेरे लिए भी नया था। यह सुनते ही कि मेरे पास रेल में बैठकर दूर-दूर से आये हुए बहुत-से विद्यार्थी हैं जो अपनी माँ के पास साल भर में एकबार ही पहुँच पाते हैं और जो मेरे न जाने से अकेले घबड़ा जायेंगे, घीसा का सारा हठ, सारा विरोध ऐसे बह गया जैसे वह कभी था ही नहीं—और तब घीसा के समान तक की क्षमता किसमें थी? जो साँझ को अपनी माई के पास नहीं जा सकते, उनके पास गुरु साहब को जाना चाहिए। घीसा रोकेगा तो उसके भगवान् जी गुस्सा हो जायेंगे, क्योंकि वे ही तो घीसा को अकेला बेकार घूमता देखकर गुरु साहब को भेज देते हैं आदि आदि। उसके तर्कों का स्मरण कर आज भी मन भर आता है। परन्तु उस दिन मुझे आपत्ति से बचाने के लिए अपने बुखार के जलते हुए अशक्त शरीर को घसीट लानेवाले घीसा को जब उसकी टूटी खदिया पर लिटाकर मैं लौटी तब मेरे मन में कौतूहल की मात्रा ही अधिक थी।

इसके उपरान्त घीसा अच्छा हो गया और धूल और सूखी पत्तियों को बाँधकर उन्मत्त के समान घूमनेवाली गर्मी की हवा से उसका रोज संप्राम छिड़ने लगा—झाड़ते-झाड़ते वही पाठशाला धूल-धूसरित होकर, भूरे, पीले और कुछ हरे पत्तों की चादर में छिपकर तथा कङ्काल-शेष शाखाओं में उलझते, सूखे पत्तों को पुकारते, वायु की संतप्त सरसर से मुखरित होकर उस भ्रान्त बालक को बिढ़ाने लगती। तब मैंने तीसरे पहर से सन्ध्या समय तक वहाँ रहने का निश्चय किया, परन्तु पता चला घीसा किसकिसाती आँखों को मलता और पुस्तक से बराबर धूल झाड़ता हुआ दिन भर वहीं पेड़ के नीचे बैठा रहता है मानो वह किसी प्राचीन युग का तपोवर्ती अनागरिक ब्रह्मचारी हो जिसकी तपस्या भङ्ग करने के लिए ही लू के भोंके आते हैं।

इस प्रकार चलते-चलते समय ने जब दाई को छूने के लिये दौड़ते हुए बालक के समान झपटकर उस दिन पर अंगुली धर दी जब मुझे उन लोगों को छोड़ जाना था तब तो मेरा मन बहुत ही अस्थिर हो उठा। कुछ बालक उदास थे और कुछ खेलने की छुट्टी से प्रसन्न। कुछ जानना चाहते थे कि छुट्टियों के दिन चूने की टिकियाँ रखकर गिने जायँ या कोयले की लकीरें खींचकर। कुछ के सामने बरसात में चूते हुए घर में आठ पृष्ठ की पुस्तक बचा रखने का प्रश्न था और कुछ कागजों पर अकारण ही चूहों की समस्या का समाधान चाहते थे। ऐसे महत्त्वपूर्ण कोलाहल में घीसा न जाने कैसे अपना रहना अनावश्यक समझ लेता था। अतः सदा के समान आज भी मैंने उसे न खोज पाया। जब मैं कुछ चिन्तित-सी वहाँ से चली तब मन, भारी-भारी हो रहा था, आँखों में कोहरा सा घिर आता था। वास्तव में उन दिनों डाक्टरों को मेरे पेट में फोड़ा होने का सन्देह हो रहा था—आपरेशन की सम्भावना थी। कब लौटूँगी

या नहीं लौटूँगी यही सोचते-सोचते मैंने फिरकर चारों ओर जो आर्द्र दृष्टि डाली, वह कुछ समय तक उन परिचित स्थानों को भट कर वहीं उलझ रही।

पृथ्वी के उच्छवास के समान उठते हुए धुँधलेपन में वे कच्चे घर आकण्ठ मग्न हो गये थे—केवल फूस के मटमैले और खपरैल के कथई और काले छप्पर, वर्षा में बढ़ी गंगा के मिट्टी-जैसे जल में पुरानी नावों के समान जान पड़ते थे। कछार की बालू में दूर तक फैले तरबूज के खेत अपने सिरकी और फूस के मुठियों, टट्टियों और रखवाली के लिए बनी पर्णकुटियों के कारण जल में बसे किसी आदिम द्वीप का स्मरण दिलाते थे। उनमें एक-दो दिये जल चुके थे तब मैंने दूर पर एक छोटा-सा काला धब्बा आगे बढ़ता देखा। वह घीसा ही होगा, यह मैंने दूर से ही जान लिया। आज गुरु साहब को उसे बिदा देनी है, यह उसका नन्हा हृदय अपनी पूरी संवेदन-शक्ति से जान रहा था; इसमें सन्देह नहीं था। परन्तु उस उपेक्षित, बालक के मन में मेरे लिए कितनी सरल ममता और मेरे विछोह की कितनी गहरी व्यथा हो सकती है, यह जानना मेरे लिए शेष था।

निकट आने पर देखा कि उस धूमिल गोधूली में बादामी कागज पर काले चित्र के समान लगनेवाला नंगे बदन घीसा एक बड़ा तरबूज दोनों हाथों में सँभाले था जिसमें बीच के कुछ कटे भाग में से भीतर की ईषतलक्ष्य ललाई चारों ओर के गहरे हरेपन में कुछ खिले कुछ बन्द गुलाबी फूल-जैसी जान पड़ती थी।

घीसा के पास न पैसा था न खेत—तब क्या वह इसे चुरा लाया है। मन का सन्देह बाहर आया ही और तब मैंने जाना कि जीवन का खरा सोना छिपाने के लिए उस मलिन शरीर को

बनानेवाला ईश्वर उस बूढ़े आदमी से भिन्न नहीं जो अपनी सोने की मोहर को कच्ची मिट्टी की दीवार में रखकर निश्चिन्त हो जाता है। घीसा गुरु साहब से झूठ बोलना भगवान् जी से झूठ बोलना समझता है। वह तरबूज कई दिन पहले देख आया था। माई के लौटने में न जाने क्यों देर हो गई तब उसे अकेले खेत पर जाना पड़ा। वहाँ खेतवाले का लड़का था जिसकी उसके नये कुरते पर बहुत दिन से नजर थी। प्रायः सुना-सुनाकर कहता था कि जिनकी भूख जूठी पत्तल से बुझ सकती

उनके लिए परोसा लगानेवाले पागल होते हैं। उसने कहा—पैसा नहीं है तो कुरता दे जाओ। और घीसा आज तरबूज न लेता तो कल उसका क्या करता। इससे कुरता दे आया—पर गुरु साहब को चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि गर्मी में वह कुरता पहनता ही नहीं और जाने-आने के लिए पुराना ठीक रहेगा। तरबूज सफेद न हो इसलिए कटवाना पड़ा—मीठा है या नहीं यह देखने के लिए अँगुली से कुछ निकाल भी लेना था।

गुरु साहब न लें तो घीसा रात भर रोयेगा—छुट्टी भर रोयेगा, ले जावें तो वह रोज नरा-धोकर पेड़ के नीचे पड़ा हुआ पाठ दोहराता रहेगा और छुट्टी के बाद पूरी किताब पढ़ी पर लिखकर दिखा सकेगा।

और अब अपने स्नेह में प्रगल्भ उस बालक के सिर पर हाथ रखकर मैं भावातिरेक से ही निश्चल हो रही। उस तट पर किसी गुरु को किसी शिष्य से कभी ऐसी दक्षिणा मिली होगी, ऐसा मुझे विश्वास नहीं। परन्तु उस दक्षिणा के सामने संसार के अब तक के सारे आदान-प्रदान फीके हो गये।

फिर घीसा के सुख का विशेष प्रबन्ध कर मैं बाहर चली गई और लौटते-लौटते कई महीने लग गये। इस बीच में उसका कोई समाचार न मिलना ही सम्भव था। जब फिर उस

ओर जाने का मुझे अवकाश मिल सका तब घीसा को उसके भगवान् जी ने सदा के लिए पढ़ने से अवकाश दे दिया था— आज वह कहानी दोहराने की मुझमें शक्ति नहीं है। पर सम्भव है आजकल, कल के दिन, दिनों के मास और मास के वर्ष बन जाने पर मैं दार्शनिक के समान धीरे भाव से उस जीवन का उपेक्षित अन्त बता सकूँगी। अभी मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है कि मैं अन्य मलिन मुखों में उसकी छाया ढूँढ़ती रहूँ।

१६—दाण्ड्यायन

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

पात्र

दाण्ड्यायन—भारतीय तपस्वी

चाणक्य—चन्द्रगुप्त का गुरु और प्रेरक

चन्द्रगुप्त—भावी मौर्य सम्राट्

सिकन्दर—ग्रीक-विजेता

सिल्यूकस—सिकन्दर का सेनापति

ऐनिसाक्रेटीज—सिकन्दर का सहचर

अलका—तक्षशिला की राजकुमारी

कार्नेलिया—सिल्यूकस की कन्या

(स्थान—सिंधुतट पर दाण्ड्यायन का आश्रम)

दाण्ड्यायन—पवन एक क्षण विश्राम नहीं लेता, सिन्धु की जलधारा बही जा रही है, बादलों के नीचे पक्षियों का झुण्ड

उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खिंचे चले जा रहे हैं। जैसे काल अनेक रूप में चल रहा है—यही तो...

[एनिसाक्रेटीज का प्रवेश]

एनि०—महात्मन् !

दाण्ड्या०—चुप रहो, सब चले जा रहे हैं, तुम भी चले जाओ। अवकाश नहीं, अवसर नहीं।

एनि०—आपसे कुछ.....।

दाण्ड्या०—मुझ से कुछ मत कहो। कहो तो अपने आप ही कहो, जिसे आवश्यकता होगी सुन लेगा। देखते हो, कोई किसी की सुनता है ! मैं कहता हूँ—सिन्धु के एक बिन्दु ! धारा में न बहकर मेरी बात सुनने के लिए ठहर जा—वह सुनता है ? ठहरता है ? कदापि नहीं।

एनि०—परन्तु देवपुत्र ने.....।

दाण्ड्या०—देवपुत्र ?

एनि०—देवपुत्र जगद्विजेता सिकन्दर ने आपका स्मरण किया है। आपका यश सुनकर आपसे कुछ कुछ उपदेश ग्रहण करने की उनकी बलवती इच्छा है।

दाण्ड्या०—(हँसकर) भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभासमात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते, दूत ! वह किसी बलवान् की इच्छा का क्रीड़ा-कन्दुक नहीं बन सकता। तुम्हारा राजा अभी मेलम भी नहीं पार कर सका, फिर भी जगद्विजेता की उपाधि लेकर जगत् को वञ्चित करता है। मैं लोभ से, सम्मान से या भय से किसी के पास नहीं जा सकता।

एनि०—महात्मन् ! ऐसा क्यों ? यदि न जाने पर देवपुत्र दण्ड दें ?

दाण्ड्या०—मेरी आवश्यकताएँ परमात्मा की विभूति प्रकृति पूरी करती हैं। उसके रहते दूसरों का शासन कैसा ?

समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति, प्रभु की दी हुई है। मृत्यु के द्वारा वही इसको लौटा लेता है। जिस वस्तु को मनुष्य दे नहीं सकता, उसे लेने की स्पर्धा से बढ़कर दूसरा दम्भ नहीं। मैं फल-मूल खाकर, अञ्जलि से जलपान कर, तृण-शय्या पर आँख बन्द किये सो रहता हूँ। न मुझसे किसी को डर है और न मुझको डरने का कारण है। तुम यदि हठान् मुझे ले जाना चाहो तो केवल मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मेरी स्वतंत्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता। एनि०—बड़े निर्भीक हो ब्राह्मण ! जाना हूँ, यही कह दूँगा।

(प्रस्थान)

[एक ओर से अलका दूसरी ओर से चाणक्य और चन्द्रगुप्त का प्रवेश। सब बन्दना करके सविनय बैठते हैं।]

अलका—देव ! मैं गान्धार छोड़कर जाती हूँ।

दाण्ड्या०—क्यों अलके, तुम गान्धार की लक्ष्मी हो, ऐसा क्यों ?

अलका—ऋषे ! यवनों के हाथ स्वाधीनता बेचकर उनके दान से जीने की शक्ति मुझमें नहीं।

दाण्ड्या०—तुम उत्तरापथ की लक्ष्मी हो, तुम अपना प्राण बचाकर कहाँ जाओगी ? (कुछ विचारकर) अच्छा, जाओ देवि ! तुम्हारी आवश्यकता है। मंगलमय विभु अनेक अमंगलों में कौन-कौन कल्याण छिपाये रहता है, हम सब उसे नहीं समझ सकते। परन्तु जब तुम्हारी इच्छा हो, निस्संकोच चली आना।

अलका—देव, हृदय में सन्देह है।

दाण्ड्या०—क्या अलका ?

अलका—ये दोनों महाशय जो आपके सन्मुख बैठे हैं—

जिन पर पहले मेरा पूर्ण विश्वास था, वे ही अब यवनों के अनुगत क्यों होना चाहते हैं ?

[दाण्ड्यायन चाणक्य की ओर देखता है और चाणक्य कुछ विचारने लगता है]

चन्द्रगुप्त—देवि ! कृतज्ञता का बन्धन अमोघ है ।

चाणक्य—राजकुमारी । उस परिस्थिति पर आपने विचार नहीं किया है, आपकी शंका निर्मूल है ।

दाण्ड्या०—सन्देह न करो अलका, कल्याण कृत को पूर्ण विश्वासी होना पड़ेगा । विश्वास सुफल देगा, दुर्गति नहीं ।

[यवन सैनिक का प्रवेश]

यवन—देवपुत्र आपकी सेवा में आना चाहते हैं, क्या आज्ञा है ?

दाण्ड्या०—मैं क्या आज्ञा दूँ सैनिक ! मेरा कोई रहस्य नहीं, निभृत मन्दिर नहीं, यहाँ पर सबका प्रत्येक क्षण स्वागत है ।

[सैनिक जाता है]

अलका—तो मैं जाती हूँ आज्ञा हो ।

दाण्ड्या०—कोई आतंक नहीं है अलका । ठहरो तो ।

चाणक्य—महात्मन्, हम लोगों को क्या आज्ञा है ? किसी दूसरे समय उपस्थित हों ?

दाण्ड्या०—चाणक्य ! तुमको तो कुछ और दिन तक इस स्थान पर रहना होगा, क्योंकि सब विद्या के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला—उद्वेग नहीं मिला । अभी तुम्हारे हृदय में हलचल मची है, यह अवस्था सन्तोषजनक नहीं ।

[सिकन्दर का सिल्यूकस, कार्नेलिया, एनिसाक्रेटीज इत्यादि सहचरों के साथ प्रवेश, सिकन्दर नमस्कार करता है, सब बैठते हैं]

दाण्ड्या०—स्वागत, अलक्षेन्द्र ! तुम्हें सुबुद्धि मिले ।

सिकन्दर—महामन् । अनुगृहीत हुआ, परन्तु मुझे कुछ और आशीर्वाद चाहिए ।

दाण्ड्या०—मैं और आशीर्वाद देने में असमर्थ हूँ । क्यों कि इसके अतिरिक्त जितने आशीर्वाद होंगे, वे अमंगलजनक होंगे ।

सिकन्दर—मैं आपके मुख से 'जय' सुनने का अभिलाषी हूँ ।

दाण्ड्या०—जयघोष तुम्हारे चारण करेंगे । हत्या, रक्तपात और अग्निकांड के लिए उपकरण जुटाने में मुझे आनन्द नहीं । विजय-तृष्णा का अन्त पराभव में होता है अलक्षेन्द्र ! राजसत्ता सुव्यवस्था से बढ़े तो बढ़ सकती है, केवल विजयों से नहीं । इसलिए अपनी प्रजा के कल्याण में लगे ।

सिकन्दर—अच्छा—(चन्द्रगुप्त को दिखा कर) यह तेजस्वी युवक कौन है ?

सिल्यूकस—यह मगध का निर्वासित राजकुमार है ।

सिकन्दर—मैं आपका स्वागत करने के लिए आपको अपने शिविर में निमन्त्रित करता हूँ ।

चन्द्रगुप्त—अनुगृहीत हुआ । आर्य्य लोग किसी का निमन्त्रण अस्वीकार नहीं करते ।

सिकन्दर—(सिल्यूकस से)—तुमसे इनसे कब परिचय हुआ ?

सिल्यूकस—इनसे तो मैं पहले मिल चुका हूँ ।

चन्द्रगुप्त—आपका उपकार मैं भूला नहीं हूँ । व्याघ्र से मेरी रक्षा की थी । जब मैं अचेत पड़ा था ।

सिकन्दर—अच्छा तो आप लोग पूर्व परिचित भी हैं । तब तो सेनापति, इनके आतिथ्य का भार आप ही पर रहा ।

सिल्यूकस—जैसी आज्ञा ।

सिकन्दर—(महात्मा से)—लौटती बार आपका फिर दर्शन करूँगा, जब भारत विजय कर लूँगा ।

दाण्ड्या०—अलक्षेन्द्र, सावधान ! (चन्द्रगुप्त को दिखाकर)—
देखो, यह भारत का भावी सम्राट् तुम्हारे सामने बैठा

[सत्र स्तब्ध होकर चन्द्रगुप्त को देखते हैं और चन्द्रगुप्त आश्चर्य से
कार्नेलिया को देखने लगता है । एक दिव्य आलोक ।]

[पटाक्षेप]

१७—सूरदास

श्री श्यामसुन्दरदास

[“बाबू श्यामसुन्दरदास का जन्म आषाढ़ संवत् १९३२ में बनारस में लाला देवीदास खन्ना के घर हुआ था । इनके पुरखे लाहौर-निवासी थे जो काशी में आकर बस गए थे । सं० १९५४ में आपने बी० ए० पास किया । कुछ वर्ष तक आप काशी के सेंट्रल हिन्दू-कालेज में अँगरेजी के अध्यापक रहे । फिर इरिगेशन डिपार्टमेंट में शिमला चले गए । कुछ वर्षों तक ये महाराज काश्मीर के प्राइवेट दफ्तर में रहे । वहाँ से कालीचरण हाई स्कूल के हेडमास्टर होकर आए और फिर काशी-विश्वविद्यालय में हिंदी-विभाग के अध्यक्षपद पर नियत हुए । इनकी सबसे बड़ी कीर्ति काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा है जिसकी स्थापना में सबसे बड़ा हाथ इन्हीं का था । बहुत दिनों तक सभा की सेवा ये बराबर, किसी न किसी रूप में, करते ही रहे । एक बार शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर मैकेंजी साहब ने इनको सभा का Intellectual dynamo कहा था । प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज के आप ६ वर्षों तक अध्यक्ष रहे । आपके संपादकत्व में वैज्ञानिक कोश और हिंदी-शब्दसागर दो महत्वपूर्ण कोश निकले । आपने एक दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखी हैं । साहित्यालोचन, भाषा-विज्ञान,

साहित्य का इतिहास आदि भिन्न भिन्न तथा गंभीर विषयों पर आपकी लेखनी चली है। आपकी शैली ओजपूर्ण, गंभीर और संयत है।” सन् १९४५ में आपका निधन हो जाने से हिन्दी-संसार की भारी क्षति हुई है।]

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरल वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नांश जनता को जीने का नवीन उत्साह मिला। इनका जन्म-संवत् लगभग १५४० था। आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में इनकी जन्मभूमि थी। चौरासी वैष्णवों की बातों तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई कोई इन्हें महाकवि चंद बरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के संबंध में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे जन्मसे अंधे थे, पर एक बार जब वे कुएँ में गिर पड़े थे तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिए थे और वे दृष्टि-संपन्न हो गए थे। परंतु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे बने रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किए, उनसे अब किसी मनुष्य को न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्टि-कूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे; क्योंकि शृङ्गार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कुएँ में गिरने के उपरांत उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञानचक्षु मिले, पहले इस चक्षु से वे हीन थे। यही आशय उक्त कहानी से ग्रहण किया जा सकता है।

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदास की भेंट हुई थी तब तक वे वैरागी के वेष में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य हो गए और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति अपने उपास्य देव और

सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह सूरसागर है, जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अंध कवि के मुख से निस्तृत हुए उनमें पुनरुक्ति भले ही हो, पर उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदय-हारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परन्तु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद महाकवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इस ग्रंथ में कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके गोकुल-त्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में होते हुए भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः 'सूरसागर' को हम गीत-काव्य कह सकते हैं। गीत-काव्य में जिस प्रकार छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अंतरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणात्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं देख पड़ती; केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुन्दर बन पड़ती है।

सूरसागर में कृष्णजन्म से कथा का आरंभ हुआ है। यशोदा के गृह में पहुँचकर कृष्ण धीरे धीरे बड़े होने लगे। उस काल की उनकी बाल-लीलाओं का जितना विशद वर्णन सूरदास ने किया उतना हिंदी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीने के हैं; माँ का दूध पीते हैं, माँ यह अभिलाषा करती है कि बालक कब बड़ा होगा, कब इसके दो नन्हें नन्हें दाँत जामेंगे, कब वह माँ कहकर पुकारेगा, कब घुटनों के बल घर भर में रेंगता फिरेगा आदि आदि। माँ बालक को दूध पिलाती है, न पीने पर उसे चोटी बढ़ने का लालच दिखाती है। उसे आकाश के चंद्रमा के लिए रोते देख थाल में पानी भरकर चाँद को बालक के लिए भूमि पर ला देती है। कितना वात्सल्य स्नेह, कितना सूक्ष्म निरीक्षण और कितना वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार के असंख्य सूक्ष्म भावों से युक्त अनेक रसपूर्ण पद कहे गए हैं। कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। मणि-खंभों में अपना प्रतिबिंब देखकर प्रसन्न होते और मचलते हैं। घर की देहली नहीं लाघ पाते। सब कुछ सत्य है और आनंदप्रद है। कृष्ण और बड़े होते हैं। वे घर से बाहर जाते, गोप सखाओं के साथ खेलते-कूदते और बाल्य चापल्य प्रदर्शित करते हैं। उनके माखन-चारी आदि प्रसंगों में गोपिकाओं के प्रेम की व्यञ्जना भरी पड़ी है। गोपियाँ बाहर से यशोदा के पास उपालंभ आदि लाती हैं, पर हृदय से वे कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हैं। प्रेम का यह अंकुर बड़ी ही शुद्ध परिस्थिति में देख पड़ता है। कृष्ण की यह किशोरावस्था है, कलुष या वासना का नाम भी नहीं है। शुद्ध स्नेह है। आगे चलकर कृष्ण सारे ब्रजमंडल में सबके स्नेहभाजन बन जाते हैं। उनका गोचारण उन्हें मनुष्यों के परिमित क्षेत्र से ऊपर उठाकर पशुओं के जगत् तक पहुँचा देता है। वंशीवट और यमुना-कुंजों की रमणीक स्थली में कृष्ण की

जो सुन्दर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली बजाते और स्नेहलीला करते अंकित की गई है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य संभवतः संसार के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। ब्रजमंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का ब्रजनिवास स्वर्ग को भी ईर्ष्यालु करने की क्षमता रखता है।

गोपिकाओं का स्नेह बढ़ता है। वे कृष्ण के साथ रासलीला में सम्मिलित होती हैं, अनेक उत्सव मनाती हैं। प्रेममयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी। कोई कृष्ण की मुरली चुराती, कोई उन्हें अभीर लगाती और कोई चोली पहनाती है। कृष्ण भी किसी की वेणी गुँथते, किसी की आँखें मूँद लेते और किसी को कदम के तले बंसी बजाकर सुनाते हैं। एकाध बार उन्हें लज्जित करने की इच्छा से चोरहरण भी करते हैं। गोपी-कृष्ण की यह संयोग-लीला भक्तों का सर्वस्व है।

संयोग के उपरान्त वियोग होता है। कृष्ण वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में संलग्न हो जाने के कारण प्यारी गोपियों को भूल से जाते हैं। गोपिकाएँ विरह में व्याकुल नित्य प्रति उनके आने की प्रतीक्षा में दिन काटती हैं। कृष्ण नहीं आते। गोपियों के भाग्य का यह व्यंग्य उन्हें कुछ देर के लिए विचलित कर देता है। पर ऊधो के ज्ञानोपदेश वे स्वीकार नहीं करतीं। कृष्ण की साकार अनंत सौंदर्यशालिनी मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अमिट अंकित है। कृष्ण चाहे जहाँ रहें, वे उन्हें भूल नहीं सकतीं। यह अनंत प्रेम का दिव्य संदेश भक्तों के हृदय का दृढ़ अवलंब है।

इसी कथानक के बीच कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यंजना करते हुए उनमें असीम शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। थोड़ी आयु में ही वे पूतना जैसी महाकाय राक्षसी का वध

कर डालते हैं। आगे चलकर केशी, बकासुर आदि दैत्यों के वध और कालियदमन आदि प्रसंगों को लाकर कृष्ण के बल और वीरता का प्रदर्शन किया गया है। परन्तु हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि सूरदास ने ऐसे वर्णन की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया। सूरदास के कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति नीतिज्ञ और पराक्रमी नहीं हैं; वे केवल प्रेम के प्रतीक और सौंदर्य की मूर्ति हैं।

कृष्ण के शील का भी थोड़ा-बहुत आभास सूर ने दिया है। माता यशोदा जब उन्हें दंड देती हैं, तब वे रोते-कलपते हुए उसे स्वीकृत करते हैं। इसी प्रकार गोचारण के समय जब उनके लिए छाक आती है, तब वे अकेले ही नहीं खाते, सबको बाँटकर खाते हैं और कभी किसी का जूठा लेकर भी खा लेते हैं। बड़े भाई बलदेव के प्रति भी उनका संमान्य भाव बराबर बना रहा है। यह सब होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सूरदास में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता है; राम-चरितमानस की भाँति उसमें लोकादर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सूरदास ने फुटकर पदों में राम-कथा भी कही है; पर वह वैसी ही बन पड़ी है, जैसी तुलसी की श्रीकृष्ण-गीतावली। इसके अतिरिक्त उनके कुछ दृष्टि-कूट और कूट पद भी हैं जिनकी क्लिष्टता का परिहार विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटों की गणना निम्न श्रेणी में होगी। सूरदास की कीर्ति को अमर कर देने और हिन्दी-कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिए उनका वृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिन्दी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ ही जीवन का सरल अकृत्रिम प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के सम्बन्ध में गम्भीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं कीं पर मनुष्य-जीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गम्भीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का वद्योग और भी स्तुत्य है। परन्तु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से सम्बन्ध रखती हुई भी, सार्वकालीन और चिरन्तन है। उनकी उत्कट कृष्ण-भक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आप से आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष कर सकते हैं। सूरदास हिन्दी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चय-पूर्वक कह सकना सरल काम नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकार अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर ब्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने ब्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर उनको पूर्ण साहित्यिक भाषा बना दिया है। परन्तु भाषा को हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता और व्यापकता पर विचार करना होगा। तुलसी ने रामचरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्णचरित में उतनी व्यापकता नहीं। इस दृष्टि से तुलसी सूर से ऊँचे ठहरते हैं, परन्तु दोनों की वाणी में पूरा भावनाएँ एक सी हैं। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत संकीर्ण क्षेत्र

को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्मदर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा विस्तृत है, लोक-कल्याण की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ अधिक शक्तिशालिनी और महत्त्वपूर्ण हैं, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। हम तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं, पर सूरदास के सम्बन्ध में कहे गए निम्नांकित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते—

सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केसवदास ।

अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास ॥



१८—कवित्व

चतुर्भुज औदिच्य

(१)

संसार में कवित्व बड़ा ही सुन्दर है। स्वर्ग की अप्सराएँ, नन्दनवन के पारिजात, पूर्णमा का चन्द्र सुन्दर कहे जाते हैं; किंतु कवित्व के सामने इन सबकी सुन्दरता अकिंचित्कर है। वसंत ऋतु की मलयानिल, प्रातःकाल का दिङ्मंडल, संध्या का अरुणित आकाश भी सुन्दर कहे जाते हैं; किंतु क्या वे कवित्व की सुन्दरता की समता कर सकते हैं।

कवित्व को सुन्दर कहना कवित्व का अनादर करना है।

कवित्व ही समस्त सुन्दर वस्तुओं का मूल है। कवित्व ने ही सौन्दर्य को सुन्दरता दी है। सौन्दर्य-संसार में कवित्व ही सबसे ऊँचा है। संसार भर में कवित्व ही का राज्य है। अच्छे को बुरा करना, बुरे को अधिक बुरा करना; अथवा अधिक बुरे को अधिक अच्छा करना—धुमा-फिराकर, उलट-पुलटकर, बुरे को बुरा और भले को भला कहना एकमात्र कवित्व का ही काम है। भगवान् ने उसे सब कुछ करने की शक्ति दी है।

कवित्व अंधकार में दीपक है; कवित्व दरिद्र का धन है; कवित्व भूख में अन्न और प्यास में शीतल जल है। कहाँ तक कहें, वह दुःख में धैर्य और विरह में मिलन है। आज उसी कवित्व की कथा मैं लिखने बैठा हूँ; इसी से मन अलौकिक आनंद में है।

कवित्व की दया और उसकी प्रीति से सामान्य मनुष्य भी अमर हो जाता है, इसी से कवित्व की उपासना करने और उसे श्रेष्ठता देने को कौन न उद्यत होगा।

(२)

कवित्व इतना अच्छा मनुष्य है; किन्तु उसका जीवनचरित नहीं है। जीवनचरित लिखने की कोई सामग्री भी नहीं। दर्शन तथा विज्ञान कवित्व को 'मनुष्य' कहने में हिचकते हैं। हिचकने दो, किन्तु मैं तो उसको एक असाधारण मनुष्य—एक महापुरुष, एक आदर्श पुरुष—समझता हूँ। पाठक ! मैं जो कुछ समझता हूँ, ठीक उसी प्रकार आपको परिचय भी दूँगा। बड़ी कठिनाई से आज मैं कवित्व की थोड़ी सी जीवनी लिखने बैठा हूँ। बहुत कुछ खोज-खाज करने पर भी मैं अब तक इसका जन्म-समय निश्चित नहीं कर सका। बहुत पहले, अथवा यों कहिए कि लाखों वर्ष पहले, उसका जन्म हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

कवित्व की जन्म-भूमि कहाँ है ? मृत्युलोक अथवा देवलोक सो कुछ ठीक नहीं। ठीक है केवल यह कि कवित्व एक बड़ा प्रभावशाली, सर्व-जनप्रिय चक्रवर्ती राजा है। बचपन में उसे शत्रुओं के हाथ से बड़े बड़े दुःख भेलने पड़े हैं। अनेक बार उसका जीवन संकट में पड़ा है। भाषा का अभाव ही उसका प्रधान शत्रु है। आधुनिक पंडितों ने अनुसंधान से यही निश्चय किया है कि कवित्व उस समय निःसहाय था। शत्रु का दमन करने में वह उस समय सरुलीभूत नहीं हुआ। उस समय कौन जानता था कि एक समय यही कवित्व दिग्विजयी सम्राट् हो जायगा। कौन जानता था कि अभागे जगत् का यही कवित्व जीवन-सर्वस्व होगा। यही कवित्व, आगे संसार में श्रेष्ठासन पर बैठ, देवों तथा मानवों के हृदय का पूजोपहार ग्रहण करेगा; यह बात तब किसी के स्वप्न में भी न आई थी।

निःसहाय होने पर भी कवित्व ने बड़ी वीरता दिखलाई। अपने प्रभाव से उसने प्रबल शत्रुओं के हाथ से अपने को भली भाँति बचा लिया; क्योंकि कुछ दिन पीछे एक परम रूपवती सुन्दरी ने उत्पन्न होकर कवित्व के प्रबल शत्रु को एक बार ही विध्वंस कर दिया। उस स्त्री का नाम 'भाषा' है।

वीरवर कवित्व, यह हाल पाकर, शत्रु-संहारिणी वीरांगना भाषा से विवाह करने के लिए बहुत ही उत्सुक हुआ। भाषा भी कवित्व के सब गुण सुनकर उसके गले में वरमाला डाल देने को व्यग्र थी। किन्तु विधाता का लेख अखंडनीय है। लाख चेष्टा करने पर भी जिस दिन जो होनेवाला है वह उसी दिन होता है। कोई बाधा नहीं; किसी को कुछ आपत्ति भी नहीं, तब भी कितने ही वर्ष बीत गए; किन्तु कवित्व और भाषा की आशा पूरी न हुई। भाषा और कवित्व का पाणिग्रहण न

हुआ। वीरवर कवित्व ने और भी कड़ी प्रतिज्ञा की कि यदि मैं भापा को न पाऊँ तो अब इस देह को रखूँगा ही नहीं।

विरह बड़ा भयानक रोग है। जिस वीर ने अकेले प्रबल शत्रुओं के संग युद्ध करके जय प्राप्त की, वह भी इसे न जीत सका। यह रोग पीछे लगे बिना सच्ची औषधि के कभी नहीं आता। कवित्व का वह शत्रु नहीं है, किन्तु तिस पर भी, वह उसे नहीं छोड़ सका। कवित्व लताओं में शयन करके भी अपने मन को शांति नहीं दे सका। उसके आत्मीय जन उसकी यह अवस्था देख चिन्ता करने लगे—हाय ! जान पड़ता है, अब कवित्व बचेगा नहीं। भगवान् ! नहीं जानते कि तुम्हारे मन में क्या है।

(३)

तमसा नदी के तीर पुष्पक वन बड़ा शोभायमान लगता है। प्रातःकाल की मृदु मंद वायु धीरे धीरे बहकर फूलों का चुंबन कर रही है। वायु से लतादि खेल रही हैं। पशु-पक्षी इधर-उधर क्रीड़ा कर रहे हैं। विरही के लिए ऐसा स्थान बड़ा ही दुःखदायी है। दैवेच्छा देखिए; आज बेचारा कवित्व इसी स्थान पर घूमता-घूमता आ पहुँचा। स्थान को देखकर उसका हृदय बड़ा कातर हो गया। हाय ! इस स्थान पर छोटे पक्षी से लेकर बड़े पशु तक अपनी पत्नियों के साथ विहार कर रहे हैं। केवल मैं ही ऐसा अभागा क्यों हूँ ? ईश्वर ! तुम्हें मेरी दशा पर तनिक दया नहीं आती। कौन दिन होगा जिस दिन मेरा हृदय सुन्दरी भाषा के संयोग से शीतल होगा। विरहातुर कवित्व इस प्रकार शोकसागर में डूबने लगा; किन्तु किसी ने उसके प्रति दया न की; कोई उसकी ओर भाँका तक नहीं।

ब्राह्मण बड़े दयार्द्र होते हैं। उनकी दया ने सारा संसार

जीता है। ब्राह्मण या ऋषियों की दया न होने से जगत् एक बार ही अंधकार में धँस जाता। कवित्व का शोक देखकर दयावान् ब्राह्मणों से न रहा गया। उन्होंने उसकी कातरता का वर्णन ऋषिवर वाल्मीकि से किया। शोकातुर कवित्व का वह दुःख किसी ने न समझा। समझा केवल ऋषि वाल्मीकि ने। उन्होंने उसकी सब इच्छा समझ ली। प्रेमिक-श्रेष्ठ कवित्व के हृदय में जो नैराश्य की अग्नि जल रही थी, उसको उन्होंने ठीक-ठीक समझ लिया। महात्मा का दयावान् हृदय कवित्व की कातरता से पिघल गया। उन्होंने अति शीघ्र भाषा और कवित्व के विवाह का योग जुटा दिया। तदुपरांत उस महात्मा ने कवित्व-समागम के लिए उत्सुक भाषा को लाकर विरहातुर, मर्म-पीड़ित, कवित्व के हाथ में, शुभ समय में, समर्पण किया। भाषा आनन्द से प्रफुल्लित हो गई। अपनी मनोकामना पूरी होने की प्रसन्नता से कवित्व कृतकृत्य हो गया। महात्मा वाल्मीकि उस भाग्यशाली मधुर मनोहरवेशी दंपति को लेकर सबके सामने उपस्थित हुए। सब लोग आश्चर्य से उन्हें देखने लगे। महात्मा ने कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।

यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

दिग्दिगन्त में कोलाहल हो उठा। स्वयं ब्रह्मा उस स्थान पर आए; और वाल्मीकिजी की, इस काम के लिए, उन्होंने सधन्य-वाद प्रशंसा की।

(४)

संसार विचित्र है। एक ओर प्रकाश, दूसरी ओर अंधकार; एक ओर धूप, दूसरी ओर मेघ; एक ओर आनन्द, दूसरी ओर विषाद—संसार की गति यही है; इसी से, उसी संसार में, एक

और सर्व-पूजित श्रेष्ठ कवित्व, और दूसरी ओर सर्व घृणिता मिथ्या। कवित्व सुन्दर, मिथ्या कुत्सित। कवित्व की प्रशंसा सब जगह; मिथ्या की निन्दा सब जगह। कवित्व सर्वत्र सम्मानित; मिथ्या सर्वत्र असम्मानित; इसी से कहता हूँ— 'संसार विचित्र है।'

कवित्व ने एक दिन इमी बेचारी दुःखिनी मिथ्या को दूर से देखा। दुःखिनी का दुःख देख उसको दया आ गई। मिथ्या मारी-मारी फिरती है। कितने मनुष्य उसके ऊपर धूल और पत्थर फेंक रहे हैं। कितने अकथ्य भाषा में गाली बक रहे हैं। कितने कुचेष्टाएँ कर रहे हैं। मिथ्या यदि घूमते-घूमते किसी के निकट जाकर आश्रय चाहती है तो वह उससे नाक-मुँह सिकोड़ दस हाथ दूर भागता है। कोई-कोई कार्यवश उसको लेता भी है, किन्तु फिर भी उसका अपमान होता है। शरणार्थिनी मिथ्या के ऊपर किसी की भी कृपा-दृष्टि न हुई। जो लोग मिथ्या का पक्ष करते हैं, मनुष्य-समाज में वे ही निन्दित होते हैं।

यही सब देख-सुनकर कवित्व कहने लगा—अहा ! जगत् में इस मिथ्या के समान और कोई हतभागिनी स्त्री न होगी। सब के पैरों से कुचली, अनेक दोषों से दूषित, इस रमणी के लिए कोई भूलकर भी दया प्रकाश नहीं करता। भगवन् ! इस पतिता का क्या किसी प्रकार उद्धार नहीं हो सकता ?

बहुत चिन्ता कर अंत में कवित्व ने मिथ्या का पाणिग्रहण करना ही स्थिर किया। उसके साथ विवाह करने से मिथ्या के दोष सब प्रकार से परिशोधित हो जायँगे, यही विश्वास करके वह मिथ्या के साथ विवाह करने को उद्यत हुआ। इस बार कवित्व को विवाह करने के लिए उतनी उत्कंठा नहीं सहनी पड़ी।

मिथ्या के साथ कवित्व का विवाह हो गया। इस विवाह के भी आचार्य्य वही महात्मा वाल्मीकि हुए। समाज में अनेक

प्रकार के ऐसे विवाह होते हैं; इसी से इस काम के लिए, किसी को दोष नहीं दिया गया। कवित्व ने यथार्थ में बेचारी मिथ्या का उद्धार किया। कवित्व-सहचारिणी मिथ्या जन-समाज में अच्छे प्रकार समावृत होने लगी। कुत्सिता, घृणिता, मिथ्या कवित्व के संयोग से सुन्दर हुई। कवित्व ने भी अधिक प्यार के साथ उसका नाम बदलकर 'कल्पना' रख दिया। कल्पना-भाषा-समन्वित कवित्वदेव की घर घर पूजा अब भी होती है। कवि ने यथार्थ कहा है—“काचः कांचनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्।”

कवित्व की दोनों ही पत्नियाँ कुछ चञ्चल हैं। कभी वे दोनों अपने पति का साथ छोड़ कहीं अलग भ्रमण करने लगती हैं। कभी पति के साथ नाना देश, नाना स्थान, देखने को चली जाती हैं।

चन्द्र के बिना रात फीकी लगती है। कवित्व के बिना मिथ्या का समादर कैसे होगा? कांचन न होने से हीरे की शोभा कैसे बढ़ेगी? मिथ्या यदि अकेली रहे तो वही पूर्ववत् घृणिता। वह उज्ज्वलवेशी राजमहिषी कल्पना और यह विकृत-वेशी मिथ्या, दोनों एक ही हैं, सो कोई नहीं जान सकता।

मिथ्या जिस समय कल्पना के रूप में महात्माओं के पास से होकर निकलती है उस समय उसका तेज बहुत ही देदीप्यमान हो जाता है। उस समय उसमें कुछ भी क्रूरबुद्धि नहीं रहती; उस समय उसका आदर भाषा से भी अधिक बढ़ जाता है। किन्तु वह भाषा के भी वृद्धि-साधन के लिए सचेष्ट रहती है। स्वामी का संग छोड़ने से मिथ्या के दुःख-भाव का भी कभी-कभी परिचय मिलता है। उस समय वह भाषा को नीचा दिखलाती है।

हे कवित्व ! हे महापुरुष ! यह दुःशीला मिथ्या तुम्हारे ही

संसर्ग से रमणीरत्न कल्पना हुई है। इसी से, हे अलौकिक शक्तिसंपन्न देव ! तुमको हम लोग पुनः पुनः प्रणाम करते हैं। तुमने दीन की ओर दया करके उसका कष्ट मोचन किया है। तुमने मनुष्यों का हृदय मिथ्या की ओर से बदल दिया है। अतएव तुम्हें बारंबार नमस्कार है। तुम धन्य हो।

भाग्यवान् कवित्व की और भी दो-एक पत्नियाँ हैं। उनमें से चित्रविद्या मुख्य है। कवित्व सब पत्नियों का प्यारा है। काव्य, आलेख्य प्रभृति उसके पुत्र हैं। कवित्व की दूसरी पत्नी कल्पना संतान के पालन करने में बड़ी चतुर है। इसीसे कवित्व की कई संतान उससे ही प्रतिपालित हैं।

कवित्व किसी न किसी स्त्री को साथ लिए बिना बाहर नहीं निकला। वह भाषा की अपेक्षा मिथ्या को अधिक प्यार करता है। इसी से कवित्व एक दोष से दोषी है।



१६—शरणागत

श्री वृंदावनलाल वर्मा

[श्री वृंदावनलाल वर्मा का जन्म सन् १८६० ई० में मऊरानीपुर (भाँसी) में हुआ। आजकल आप भाँसी में रह कर ही साहित्य-सेवा करते हैं। उपन्यास-लेखकों में आप अग्रगण्य माने जाते हैं। आपने हिंदी में कई उपन्यास, नाटक तथा कहानियाँ लिखी हैं। ऐतिहासिक घटना तथा सामाजिक समस्या को लेकर ही आपने सारे उपन्यास और कहानियाँ लिखी हैं। आपकी भाषा सरल, मनोरंजक तथा मुहावरेदार होती है।]

(१)

रज्जब जब अपना रोजगार करके ललितपुर लौट रहा था, साथ में स्त्री थी, और गाँठ में दो-तीन सौ की बड़ी रकम। मार्ग बीहड़ था, और सुनसान ! ललितपुर काफी दूर था, बसेरा कहीं-न-कहीं लेना ही था, इसलिए उसने मड़पुरा नामक गाँव में ठहर जाने का निश्चय किया। उसकी पत्नी को बुखार हो आया था, रकम पास में थी और बैलगाड़ी किराये पर करने में खर्च ज्यादा पड़ता, इसलिए रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परंतु ठहरता कहाँ ? जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियाँ डाले थी, और पाजामा पहने थी। इसके सिवा गाँव के बहुत-से लोग उसको पहचानते भी थे। वह उस गाँव के बहुत-से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर खरीदकर ले जा चुका था।

अपने व्यवहारियों से उसने रात भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की। किसी ने भी मंजूर न किया। उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग-अलग और लुके-छिपे बेचे थे। ठहराने में तुरंत ही तरह-तरह की खबरें फैलतीं, इसलिए सबों ने इनकार कर दिया।

गाँव में एक गरीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी जमीन थी, जिसको किसान जोते हुए थे। निज का हल-बैल कुछ भी न था। लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परंतु उसको गाँववाले 'गद्दी' के आदर-व्यंजक शब्द से पुकारा

करते थे, और ठाकुर को डर के मारे 'राजा' शब्द से संबोधन करते थे।

शाम तक मारा मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वरग्रस्त पत्नी को लेकर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके कहा—“दाऊजू एक बिनती है।”

ठाकुर ने बिना रत्ती-भर इधर-उधर हिले-डुले पूछा, “क्या?”

रज्जब बोला—“मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ। मेरी औरत को जोर से बुखार आ गया है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी। इसलिए रात-भर के लिए कहीं दो हाथ जगह दे दी जाय।”

“कौन लोग हो?” ठाकुर ने प्रश्न किया।

“हूँ तो कसाई।” रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी आँखों में कठोरता छा गयी। बोला—“जानता है, यह किसका घर है? यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने?”

रज्जब ने आशा-भरे स्वर में कहा—“यह राजा का घर है। इसीलिए शरण में आया हूँ।”

तुरंत ठाकुर की आँखों की कठोरता गायब हो गयी। जरा नरम स्वर में बोला—“किसी ने तुम को बसेरा नहीं दिया?”

“नहीं महाराज!” रज्जब ने उत्तर दिया—“बहुत कोशिश की, परंतु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।” और वह दरवाजे के बाहर ही एक कोने से चिपटकर बैठ गया। पीछे उसकी पत्नी कराहती, काँपती हुई गठरी-सी बनकर सिमट गयी।

ठाकुर ने कहा—“तुम अपनी चिलम लिये हो ?”

“हाँ, सरकार !” रज्जब ने उत्तर दिया ।

ठाकुर बोला—“तब भीतर आ जाओ, और तमाखू अपनी चिलम से पी लो । अपनी औरत को भीतर कर लो । हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना ।”

जब वे दोनों भीतर आ गये, ठाकुर ने पूछा—“तुम कब यहाँ से उठकर चले जाओगे ?” जवाब मिला—“अँधेरे में ही महाराज ! खाने के लिए रोटियाँ बाँधे हूँ, इसलिए पकाने की जरूरत न पड़ेगी ।”

“तुम्हारा नाम ?”

“रज्जब ।”

(२)

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा—“कहाँ से आ रहे हो ?”

रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया ।

“वहाँ किस लिए गये ?”

“अपने रोजगार के लिए ।”

“काम तो तुम्हारा बहुत बुरा है ।”

“क्या करूँ, पेट के लिए करना ही पड़ता है । परमात्मा ने जिस के लिए जो रोजगार मुर्कर किया है, वही उसको करना पड़ता है ।”

“क्या नफा हुआ ?” प्रश्न करने में ठाकुर को जर संकोच हुआ, और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर ।

रज्जब ने जवाब दिया—“महाराज, पेट के लायक कुछ मिल गया है । यों ही ।” ठाकुर ने इस पर कोई जिद नहीं की ।

रज्जव एक क्षण बाद बोला—“बड़े भोर उठकर चला जाऊँगा। तब तक घर के लोगों की तबीयत भी अच्छी हो जायगी।”

इसके बाद दिन-भर के थके हुए पति-पत्नी सो गये। काफी रात गये, कुछ लोगों ने एक बाँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। एक फटी-सी रजाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगन्तुकों में से एक ने धीरे से कहा—“दाऊजू, आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल संध्या का सगुन बैठे है।”

ठाकुर ने कहा—“आज जरूरत थी। खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था?”

“हाँ,” आगन्तुक बोला—“एक कसाई रुपये की मोट बाँधे इसी ओर आया है। परंतु हम लोग जरा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे जरा जल्दी।”

ठाकुर ने घृणा-सूचक स्वर में कहा—“कसाई का पैसा न छूना।

“क्यों?”

“बुरी कमाई है।”

“उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है?”

“परंतु उसके व्यवसाय से वह रुपया दूषित हो गया है।”

“रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ में आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।”

“मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।”

“हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।”

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने कुछ सोचकर अपने साथियों को बाहर-का-बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा, कसाई सो रहा था, और उसकी पत्नी भी ।
ठाकुर भी सो गया ।

(३)

सबेरा हो गया, परन्तु रज्जब न जा सका । उसकी पत्नी का बुखार तो हल्का हो गया था, परन्तु शरीर-भर में पीड़ा थी, और वह एक कदम भी नहीं चल सकती थी ।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देखकर कुपित हो गया । रज्जब से बोला---“मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किये हैं । गाँव-भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देखकर तरह-तरह की बकवास करेगा । तुम बाहर जाओ । इसी समय ।”

रज्जब ने बहुत बिनती की, परन्तु ठाकुर न माना । यद्यपि गाँव-भर उसके दबदबे को मानता था, परन्तु अव्यक्त लोकमत का दबदबा उसके भी मन पर था । इसलिए रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक एक पेड़ के नीचे जा बैठा, और हिन्दूमात्र को मन-ही-मन कोसने लगा ।

उसे आशा थी कि पहर-आध-पहर में उसकी पत्नी की तबीयत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी । परन्तु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराये पर कर लेने का निर्णय किया ।

मुश्किल से एक चमार काफी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिये राजी हुआ । इतने में दोपहर हो गयी । उसकी पत्नी को जोर का बुखार हो आया । वह जाड़े के मारे थर-थर काँप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी । गाड़ी में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिए यात्रा

को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस बेचारी की कम-से-कम कँपकँपी बन्द न हो जाय ।

घंटे-डेढ़-घण्टे बाद उसकी कँपकँपी बन्द हो गयी; परन्तु ज्वर बहुत तेज हो गया । रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया, और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा ।

गाड़ीवान बोला—“दिन-भर तो यहीं लगा दिया । अब जल्दी चलने को कहते हो ।”

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा ।

वह बोला—“इतने किराये में काम नहीं चल सकेगा । अपना रुपया वापस लो । मैं तो घर जाता हूँ ।”

रज्जब ने दाँत पीसे । कुछ क्षण चुप रहा । सचेत होकर कहने लगा—“भाई, आफत सब के ऊपर आती है । मनुष्य मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं । तुम्हारे ही बाल-बच्चे हैं । कुछ दया के साथ काम लो ।”

कसाई को दया पर व्याख्यान देते सुनकर गाड़ीवान को हँसी आ गयी ।

उसको टस-से-मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिये । तब उसने गाड़ी हाँकी ।

(४)

पाँच-छः मील चलने के बाद संध्या हो गयी । गाँव कोई पास में न था । रज्जब की गाड़ी धीरे-धीरे चली जा रही थी । उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी । रज्जब ने अपनी कमर टटोली । रकम सुरक्षित बँधी पड़ी थी ।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण आंटी का कुछ बोझ कम कर देना पड़ा है—और स्मरण हो

आया गाड़ीवान का वह हठ, जिसके कारण उसको कुछ पैसे व्यर्थ ही और दे देने पड़े थे। उससे गाड़ीवान पर क्रोध था; परन्तु उसके प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया—

“गाँव तो यहाँ से दूर मिलेगा।”

“बहुत दूर, वहीं ठहरेंगे।”

“किसके यहाँ?”

“किसी के यहाँ भी नहीं। पेड़ के नीचे। कल सबेरे ललितपुर चलेंगे।”

“कल का फिर पैसा माँग उठोगे?”

“कैसे माँग उठूँगा? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे माँगूँगा?”

“जैसे आज गाँव में हठ करके माँगा था। बेटा, ललितपुर होता, तो बतला देता।”

“क्या बतला देते? क्या सेंट-मेंत का गाड़ी में बैठना चाहते थे?”

“क्यों वे, क्या रुपये देकर भी सेंट-मेंत का बैठना कहलाता है? जानता है, मेरा नाम रज्जब है। अगर बीच में गड़बड़ करेगा, तो साले को यहीं छुरे से काटकर कहीं फेंक दूँगा, और गाड़ी लेकर ललितपुर चल दूँगा।”

रज्जब क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहता था, परन्तु शायद अकारण ही वह भली भाँति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा, अँधेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था। आस-पास झाड़ी खड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला, अब निकला। रज्जब की

गात सुनकर उसकी हड्डी काँप गयी। ऐसा जान पड़ा, मानों सलियों को उसकी ठंडी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हाँकने लगा। उसने सोचा— गाँव के आते ही गाड़ी छोड़कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा, और इलागुल्ला करके गाँववालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा। रुपये-पैसे भले ही वापस कर दूँगा, परन्तु और प्रागे न जाऊँगा। कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले !”

(५)

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठक कर बड़े हो गये। रज्जब सामने न देख रहा था, इसलिए जरा ठड़क कर गाड़ीवान से बोला—“क्यों वे बदमाश, सो गया क्या ?”

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी में से किसी के कठोर कंठ से निकला—“खबरदार, जो प्रागे बढ़ा !”

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पाँच आदमी बड़े-बड़े लट्ट बाँधकर न जाने कहाँ से आ गये हैं। उनमें तुरन्त ही एक ने पैलों की जुँआरी पर एक लट्ट पटका और दो दायें-बायें आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गये।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला—“मालिक, मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझे कोई सरोकार नहीं।”

“यह कौन है ?” एक ने गरजकर पूछा।

गाड़ीवान की घिघी बँध गयी। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से संभालते हुए बहुत ही विनम्र स्वर में कहा—“मैं बहुत गरीब आदमी हूँ।

मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है मुझे जाने दीजिए।”

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया अब उसका मुँह खुला। बोला—“महाराज, मुझको छोड़ दो। मैं तो किराये से गाड़ी लिये जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिए तीन-चार आने पैसे ही हैं।”

“और यह कौन है? बतला।” उन लोगों में से एक ने पूछा गाड़ीवान ने तुरंत उत्तर दिया—“ललितपुर का एक कसाई।” रज्जब के सिर पर जो लाठी उबारी गयी थी, वह बर्ह रह गयी। लाठीवाले के मुँह से निकला—“तुम कसाई हो।” सच बतलाओ।”

“हाँ महाराज!” रज्जब ने सहसा उत्तर दिया—“मैं बहुत गरीब हूँ। हाथ जोड़ता हूँ, मुझको बचाओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।”

औरत जोर से कराही।

लाठीवाले उस आदमी ने एक साथी से कान में कहा—“इसका नाम रज्जब है। छोड़ो, चलें यहाँ से।”

उसने न माना, बोला—“इसका खोपड़ा चकनाचूर कर दाऊजू, यदि वैसे न माने तो। कसाई-असाई हम कुछ नहीं मानते।

“छोड़ना ही पड़ेगा”, उसने कहा—“इस पर हाथ नहीं पसारेंगे और न इसका पैसा छुयेंगे।”

दूसरा बोला—“क्या कसाई होने के डर से? दाऊजू आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं, मैं देखता हूँ। और वह तुरंत लाठी लेकर गाड़ी में चढ़ गया। लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ाकर उसने तुरंत रगया-पैस

निकालकर दे देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने जरा तीव्र स्वर में कहा—“नीचे उतर आओ। उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।”

“हो, मेरी बला से”, गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया—“मैं कसाइयों की दवा हूँ।” और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा—“खबरदार, जो उसे छुआ। नीचे उतरो, नहीं तो तुम्हारा सिर चूर किये देता हूँ। वह मेरी शरण आया था।”

गाड़ीवान लठैत भक्त-सी मारकर नीचे उतर आया।

नीचेवाले व्यक्ति ने कहा—“सब लोग अपने-अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।” फिर गाड़ीवान से बोला—“जा रे, हाँक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुँचा आना, तब लौटना; नहीं तो अपनी खैर मत समझिए। और, तुम दोनों में से किसी ने भी कभी इस बात की चर्चा कहीं की, तो भूसा की आग में जलाकर खाक कर दूँगा।”

गाड़ीवान गाड़ी लेकर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी, उसने लुब्ध स्वर में कहा—“दाऊजू, आगे से कभी आप के साथ न आऊँगा।”

दाऊजू ने कहा—“न आना। मैं अकेला ही बहुत कर गुजरता हूँ। “परंतु बुंदेला शरणागत के साथ घात नहीं करता” इस बात को गाँठ बाँध लेना।”

२०—काश्मीर की सैर

महादेवी वर्मा

उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर, अपने कर्त्तव्य की गुरुता से निःस्तब्ध प्रहरी जैसे खड़े हुए, आकाश में भी धरातल के समान मार्ग बना देनेवाले सफेदे के वृक्षों की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रांति जब कुछ कम हुई तब हम दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस व्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था जिसे कहीं देखना तो स्मरण आ जाता है परन्तु नाम-धाम नहीं याद आता।

उस सजीव सौन्दर्य में एक अद्भुत निःस्पंदता थी जो उसे नित्य दर्शन से साधारण लगनेवाले सौन्दर्य से भिन्न किए दे रही थी।

चारों ओर से नीलाकाश को खींचकर पृथ्वी से मिलाता हुआ क्षितिज, रुपहले पर्वतों से घिरा रहने के कारण, बादलों से बने घेरे जैसा जान पड़ता था। वे पर्वत अविरल और निरन्तर होने पर भी इतनी दूर थे कि धूप में जगमगाती असंख्य चाँदी-सी रेखाओं के समूह के अतिरिक्त उनमें और कोई पर्वत का लक्षण दिखाई न देता था। जान पड़ता था किसी चित्रकार ने अपने आलस्य के क्षणों में रुपहले रंग में तूलिका डुबाकर नीले धरातल पर इधर-उधर फेर दी है।

जहाँ तक दृष्टि जाती थी, पृथ्वी अश्रुमुखी ही दिखाई पड़ती थी। जल की इतनी अधिकता हमारे यहाँ वर्षा के अतिरिक्त कभी देखने में नहीं आती, परन्तु उस समय के धरातल और यहाँ के धरातल में उतना ही अंतर है, जितना धुले हुए सजल मुख और आँसूभरी आँखों में। मार्ग इतना

सूखा था कि धूल उड़ रही थी, परन्तु उसके दोनों किनारे सजल थे, जिनमें कहीं कहीं कमल की आकृतिवाले छोटे फूल कुछ मीलित और कुछ अर्धमीलित दशा में भूल रहे थे ।

रावलपिंडी से २०० मील मोटर में चलने से शरीर अवसन्न हो ही रहा था, उस पर चारों ओर बिखरी हुई अभिनव सुषमा और संगीत के आरोह-अवरोह की तरह चढ़ाव-उतार वाले समीर की सरसर ने मन को भी ऐसा विमूर्च्छित सा कर दिया कि श्रीनगर में बदरिकाश्रम पहुँच कर बड़ी कठिनता से सत्य और स्वप्न में अंतर जान पड़ा । वह आश्रम, जहाँ हाउस बोट में जाने तक हमारे ठहरने का प्रबंध था, सहज ही किसी 'जू' का स्मरण करा देता था; कारण वहाँ अनेक प्रांत के प्रतिनिधि अपनी अपनी विशेषताओं के प्रदर्शन में दत्तचित्त थे । कहीं कोई पंजाबी युवती अपने वीर वेश में गर्व से मस्तक उन्नत किए देखनेवालों को चुनौती सी देती घूम रही थी, कहीं संयुक्त-प्रान्त का कोई प्राचीन घूँघट निकाले इस प्रकार संकोच और भय से सिमटी हुई खड़ी थी मानो सब उसी के लज्जारूपी कोष पर आक्रमण करने पर तुले हुए हैं और वह उसे छिपाने के लिए वृथ्वा से स्थान माँग रही है; कहीं कोई महाराष्ट्र सज्जन शिखा का गुरु भार सिर पर धारण किए जलाने की लकड़ियों को धोते हुए दूसरे के कौतूहल का कारण बन रहे थे और कहीं धर्म-दिग्गज धर्म-पालन और उदर-पूर्ति में कौन श्रेष्ठ है, इस समस्या के समाधान में तत्पर थे । प्रकृति की चंचलता की कमी की पूर्ति मनुष्य में हो रही थी ।

अधिकारियों ने हमारे कमरे, नौकर आदि की जैसी सुव्यवस्था थोड़े समय में कर दी वह सराहने योग्य थी, परन्तु वहाँ के वास्तविक जीवन का परिचय तो हमें अपने हाउसबोट में जाकर ही मिल सका । नीले आकाश की ओर से, नीलाभ

मेलम के जल में वे रंगीन जलयान वर्षा से धुले आकाश में इंद्रधनुष की स्मृति दिलाते रहते थे।

जिसने इस प्रकार तरंगों के स्पंदित हृदय पर अछोर अंतरिक्ष के नीचे रहने का इतना सुन्दर साधन ढूँढ़ निकाला उसके पास अवश्य ही बड़ा कवित्वमय हृदय रहा होगा। जीना सब जानते हैं और सौंदर्य से भी सबका परिचय रहता है परन्तु सौंदर्य में जीना किसी कलाकार का ही काम है।

हमारे पानी पर बने हुए घर में एक सुन्दर सजी हुई बैठक, सब सुख के साधनों से युक्त दो शयनगृह, एक भोजनालय और दो स्नानागार थे। भोजन दूसरे बोट में बनता था, जिसके आधे भाग में हमारा मामी सुलताना सपत्नीक चीनी की पुतली सी कन्या नूरी और पुत्र महमूद के साथ अपना छोटा सा संसार बसाए हुए था। साथ ही एक तितली जैसा शिकारा भी था जिसे पान की झाकृतिवाली छोटी सी पतवार से चलाकर छोटा महमूद दोनों कूलों को एक करता रहता था।

हम रात को लहरों में भूलते हुए खुली छत पर बैठकर तट के एक एक दीपक को पानी में अनेक बनते हुए तब तक देखते ही रह जाते थे जब तक नींद भरी पलकें बंद होने के लिए सत्याग्रह न करने लगती थीं और फिर सबेरे तब तक कोई काम न हो पाता था जब तक जल में सफेद बादलों की काली छाया अरुण होकर फिर सुनहरी न हो उठती थी। उस फूलों के देश पर रुपहले-सुनहले रात-दिन बारी बारी से पहरा देने आते जान पड़ते थे। वहाँ के असंख्य फूलों में मुझे दो जंगली फूल 'मजारपोश' और 'लालापोश' बहुत ही प्रिय लगे।

मजारपोश अधिक से अधिक संख्या में समाधि पर फूलकर, अपनी नीली अधखुली पँखड़ियों से, अस्थिपंजर को ढँके हुई धूलि को नंदन बना देता है और लालापोश हरे लहलहाते खेतों

में अपने आप उत्पन्न होकर, अपने गहरे लाल रंग के कारण, हरित धरातल पर जड़े पद्मराग की स्मृति दिला जाता है। फूलों के अतिरिक्त उस स्वर्ग के बालक भी स्मरण की वस्तु रहेंगे। उनकी मजारपोश जैसी आँखें, लालापोश जैसे होंठ, हिम जैसा वर्ण और धूलि जैसा मलिन वस्त्र उन्हें ठीक प्रकृति का एक अंग बनाए रखते हैं। अपनी सारी मलीनता में कैसे प्रिय लगते हैं वे ! मार्ग में चलते न जाने किस कोने से कोई भोला बालक निकल आता और 'सलाम जनाब पासा' कहकर विश्वास भरी आँखों से हमारी ओर देखने लगता। उसकी गम्भीरता देखकर यही प्रतीत होता था कि उसने सलाम करके अपने गुरुतम कर्त्तव्य का पालन कर दिया है अब उसे सुननेवाले के कर्त्तव्य-पालन की प्रतीक्षा है। शीत ने इन मोम के पुतलों को अंगारों में पाला है और दरिद्रता ने पाषाणों में। प्रायः सबेरे कुछ सुंदर सुंदर बालक नङ्गे पैर पानी में करम का साग लाने दौड़ते दिखाई देते थे और कुछ अपना शिकार लिये 'सलाम जनाब पार पहुँचाएगा' पुकारते हुए। ऐसे ही कम अवस्थावाले बालकों को कारखानों में शाल आदि पर गंभीर भाव से सुन्दर बेलबूटे बनाते देखकर हमें आश्चर्य हुआ।

काश्मीरी स्त्रियाँ भी बालकों के समान ही सरल जान पड़ीं। उनके मुख पर न जाने कैसी हँसी थी, जो क्षण भर में आँखों में झलक जाती थी और क्षण भर में ओठों में। वे एड़ी चूमता हुआ कुर्ता और उसके नीचे पायजामा पहनकर एक छोटी सी ओढ़नी को कभी कभी बीच से तह करके, तिकोना बनाकर, और कभी कभी वैसे ही सिर पर ढाले रहती हैं। प्रायः मुसलमान स्त्रियाँ ओढ़नी के नीचे मोती लगी या सादी टोपी लगाए रहती हैं जो सुन्दर लगती हैं।

प्रकृति ने इन्हें इतना भव्य रूप दिया, परन्तु निष्ठुर भाग्य

ने॥दियासलाई के डिब्बे जैसे छोटे मलिन अभव्य घरों में प्रतिष्ठित कर और एक मलिन वस्त्रमात्र देकर इनके सौंदर्य का उपहास कर डाला और हृदयहीन विदेशियों ने अपने ऐश्वर्य की चकाचौंध से इनके अमूल्य जीवन को मोल लेकर मूल्यरहित बना दिया। प्रायः इतर श्रेणों की स्त्रियाँ मुझे कागज में लपेटी कलियों की तरह मुर्झाई मुस्कराहट से युक्त जान पड़ीं। छोटी छोटी बालिकाओं की मन्दस्मित याचना, प्रौढ़ाओं की फीकी हँसी में विवशता और वृद्धाओं की सरल चितवन में असफल वात्सल्य भाँकता रहता था।

इसके अतिरिक्त सफेद दुग्धफेनिभ दाढ़ीवाले, आँखों में पुरातन चश्मा चढ़ाए, पतली अँगुलियों में सुई दबाकर कला को वस्त्रों में प्रत्यक्ष करते हुए शिल्पकार भी मुझे तपस्वियों जैसे ही भव्य लगे। इस सुन्दर हिमराशि में समाधिस्थ पर्वत के हृदय में इतनी कला कैसे पहुँचकर जीवित रह सकी, यह आश्चर्य का विषय है। कोई काष्ठ जैसी नीरस वस्तु को सुन्दर आकृति देकर सरस बना रहा था, कोई कागज कूटकर बनाई हुई वस्तुओं पर छोटी तूलिका से रङ्ग भर भरकर उसमें प्राण का संचार कर रहा था और कोई रंग-बिरङ्गे ऊन या रेशम से सूती और ऊनी वस्त्रों को चित्रमय जगत् किए दे रहा था। सारांश यह कि कोई किसी वस्तु को भी वैसा नहीं रहने देना चाहता था जैसा ईश्वर ने बनाया है।

काश्मीर के सौन्दर्य-कोष में सबसे मूल्यवान् मणि वहाँ के शालामार और निशात बाग माने जाते हैं और वास्तव में सम्राज्ञी नूरजहाँ और सम्राट् जहाँगीर को स्मृति से युक्त होने के कारण वे हैं भी इसी योग्य। शालामार में बैठकर तो अनायास ही ध्यान आ जाता है कि यह उसी सौन्दर्य-प्रतिमा का प्रमोदवन रह चुका है जिसे सिंहासन तक पहुँचाने के लिए

उसके अधिकारी को स्वयं अपने जीवन की सीढ़ी बनानी पड़ी और जब वह उस तक पहुँच गई तब उसकी गुरुता से संसार काँप उठा। यदि वे उन्नत, सघन और चारों ओर वरद हाथों की तरह शाखाएँ फैलाए हुए चिनार के वृक्ष बोल सकते, यदि आकाश तक अपने सजल उच्छ्वासों को पहुँचानेवाले फौवारे बता सकते तो न जाने कौन सी करुण-मधुर कहानी सुनने को मिलती ?

जिन रजकणों पर कभी रूपसियों के रागरंजित सुकोमल चरणों का न्यास भी धीरे धीरे होता था, उनपर जब यात्रियों के भारी जूतों के शब्द से युक्त कठार पैर पड़ते थे, तब लगता था कि वे पीड़ा से कराह उठेंगे।

किंवदंती है कि पहले शालामार का निर्माण और नामकरण श्रीनगर बसानेवाले द्वितीय प्रवरसेन द्वारा हुआ था। फिर उसी भग्नावशेष पर जहाँगीर ने अपने प्रमोद-उद्यान की नींव डाली। अब तो उसके अनंत प्रतीक्षा में जीर्ण, वृक्षों की पंक्ति में; किसी परिचित पदध्वनि को सुनने के लिए निःस्तब्ध पल्लवों में, ऊपर क्षणिक वितान बना देनेवाले फौवारों के सीकरों में और भंगिमामय प्रपातों में पारस्य देश की कला की अमिट छाप है। हमारे अजस्र प्रवाहिनी सरिताओं से निरंतर सिक्त देश ने जल को इतने बंधनों में बाँधकर नर्तकी के समान लास सिखाने की आवश्यकता नहीं समझी थी, परन्तु मुसलमान शासकों के प्रभाव से इसने हमारे सजीव चित्र से उपवनों को सजल भी बना दिया। जिस समय सारे फौवारे सहस्रों जलरेखाओं में विभाजित हो होकर आकाश में उड़ जाने की विफल चेष्टा में अपने तरल हृदय को खंड खंड कर पृथ्वी पर लौट आते हैं, सूखे प्रपातों से अश्रुपात होने लगता है, उस समय पानी के बीच में बनी हुई राजसी काले पत्थर

की चौकी पर किसी अनंत अभाव की छाया पड़कर उसे और भी अधिक कालिमामय कर देती है।

डल भील की दूसरी ओर सौन्दर्यमयी नूरजहाँ के भाई आसफअली का पहाड़ के हृदय से चरण तक विस्तृत निशात बाग है, जिसकी क्रमबद्ध उँचाई के अनुसार निर्मित १२ चबूतरों के बीच से अनेक प्रकार से खोदी हुई शिलाओं पर से भरते हुए प्रपात अपना उपमान नहीं रखते। इसकी सजलता में शालामार की प्यास छिपी नहीं जान पड़ती, वरन् एक प्रकार का निवेद मनुष्य को तन्मय सा कर देता है। मनुष्य ने यहाँ प्रकृति की कला में अपनी कला इस प्रकार मिला दी है कि एक के अंत और दूसरी के आरंभ के बीच में रेखा खींचना कठिन है, अतः हमें प्रत्येक क्षण एक का अनुभव और दूसरे का स्मरण होता रहता है। इसके विपरीत अंतःपुर की सजीव प्रतिमाओं के लिए इन प्रतिमाओं के आराधक और आराध्य बादशाह के लिए तथा इनके कौतुक से विस्मित सर्वसाधारण के लिए तीन भागों में विभक्त शालामार के पत्ते पत्ते में मनुष्य की युगों से प्यासी लालसाओं की अस्पष्ट छाया मदिरा की अतृप्त मादकता लिये घूमती सी ज्ञात होती है, परन्तु दोनों ही अपूर्व हैं, इसमें संदेह नहीं।

इस चिर नवीन स्वर्ग ने सुन्दर शरीर के मर्म में लगे हुए व्रण के समान अपने हृदय में कैसा नरक पाल रखा है, यह कभी फिर कहने योग्य करुण कहानी है।

२१—हमारा विश्वास शान्ति में है

श्री जवाहरलाल नेहरू

[पंडित जवाहरलाल नेहरू का जन्म १८८६ ई० में प्रयाग में हुआ था । ये महात्मा गांधी के राजनैतिक उत्तराधिकारी और भारत के सबसे प्रभावशाली सत्यनिष्ठ नेता हैं । आप आजकल भारत के प्रधान मन्त्री हैं । पंडितजी ने आत्मकथा और पत्रों के रूप में एक विश्व-इतिहास भी लिखा है । इनमें प्रभावशाली व्यक्तित्व और कार्य करने की अद्भुत क्षमता है; राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का सामंजस्य करना आपका विशेष गुण है । इनके संयुक्त राष्ट्र की कांग्रेस में दिये गये भाषण का सारांश आगे दिया जा रहा है ।]

मैं इस देश में यह जानने के लिए आया हूँ कि आपने कितनी उन्नति की है । मैं अपने देशवासियों का अभिवादन आप तक पहुँचाने के लिए भी आया हूँ । मैं आशा करता हूँ कि मेरी यात्रा से दोनों देशों के लोगों में और भी सद्भावना पैदा होगी और दोनों देशों को बाँधनेवाली मजबूत कड़ियाँ और भी मजबूत होंगी । आज संसार में जिस बात की सबसे अधिक आवश्यकता है, वह यह है कि देश एक दूसरे को समझें और एक दूसरे का ध्यान रखें । इसलिए आज मैं अमेरिका के हृदय और मस्तिष्क का ज्ञान प्राप्त करने और आपके सम्मुख अपने हृदय और मस्तिष्क का परिचय देने के लिए यहाँ आया हूँ । इस प्रकार हम इस सद्भावना और सहयोग में वृद्धि कर सकते हैं जिसके लिए हमारे दोनों देश इतने उत्सुक हैं ।

गत दो दिनों से मैं वाशिंगटन में हूँ । इन दिनों में मैं इस राष्ट्र के महान् निर्माताओं के स्मारकों को देख चुका हूँ । मैंने

इनको केवल प्रथा-पालन के लिए नहीं देखा है; बल्कि इसलिए कि मेरे हृदय में इनके लिए बहुत पहले से स्थान था और उनके आदर्शों से मुझे और मेरे देशवासियों को बहुत प्रेरणा मिली है। ये स्मारक ऐसे मन्दिर हैं जिनके प्रति सभी पीढ़ियों को श्रद्धा प्रकट करनी चाहिए और इस प्रकार अपने हृदयों में उस आग की एक चिनगारी पैदा करनी चाहिए, जो उनके हृदयों में जलती थी। ये लोग स्वतन्त्रता के प्रकाशदाता थे, न केवल अपने देश के लिए वरन् संसार भर के लिए; क्योंकि जो लोग वास्तव में महान् होते हैं, वे किसी एक खास देश के नहीं हो सकते, बल्कि समस्त संसार के होते हैं।

भारत में भी हमारी पीढ़ी में एक मनुष्य ऐसा उत्पन्न हुआ था जिसने हमें महान् कार्य की प्रेरणा दी। उसने हमें सदा यह बताया कि मनुष्य के विचार और कर्म, नैतिक सिद्धान्त से अलग नहीं होने चाहिए। उसने कहा कि मनुष्य का सच्चा मार्ग सत्य और शान्ति का मार्ग है। उसके मार्ग-प्रदर्शन में हमने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए उद्योग किया। इसमें हमने किसी के प्रति दुर्भाव नहीं रक्खा। वे इतने महान् थे कि उन्हें किसी देश की सीमा में बन्द नहीं किया जा सकता। उन्होंने जो सन्देश दिया है, उससे हमें संसार की विस्तृत समस्याओं पर विचार करने में सहायता मिल सकती है।

संयुक्त राष्ट्र ने भी न्वतन्त्रता की लड़ाई लड़ी है और आज डेढ़ शताब्दी की अद्वितीय समृद्धि के बाद वह संसार का एक महान् और शान्तिपूर्ण देश है। वह भौतिक समृद्धि, विज्ञान और यान्त्रिक उन्नति की आश्चर्यजनक सीमा तक पहुँच गया है। उसने अपने इतिहास के पूर्व भाग में जो महान् सिद्धान्त

स्थापित किये थे, यदि वह उन पर स्थिर न रहता तो इतनी उन्नति कदापि न कर पाता ।

ये सिद्धान्त और आदर्श आपकी स्वतन्त्रता की घोषणा में निहित हैं, जिसमें यह स्वयंसिद्ध सत्य दिया हुआ है कि सब मनुष्य समान उत्पन्न किये गये हैं और ईश्वर ने उनको जीवन, स्वतन्त्रता और सुख की लालसा समान रूप से दी है । भारत के विधान पर आपके विधान का गहरा प्रभाव पड़ा है । हमारे विधान की भूमिका में कहा गया है, 'हम भारतीय, भारत को एक सार्वभौम जनतन्त्र बनाने, सब नागरिकों के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, विश्वास, धर्म और पूजा की स्वतन्त्रता, दर्जे और अवसर की समानता प्राप्त करने के लिए उनके व्यक्ति के गौरव और राष्ट्र की एकता का आश्वासन देते हुए उनमें भ्रातृ-भाव की वृद्धि का निश्चय करते हुए अपनी इस विधान-परिषद् में यह विधान बनाते और स्वीकार करते हैं ।'

इन शब्दों में आपको जनतन्त्र के महान् संस्थापकों के शब्दों की प्रतिध्वनि सुनाई देगी । आप देखेंगे कि भारत आपसे ऐसी वाणी में बोलता है जिसे आप चाहे अभी न पहचानें, किन्तु जो वाणी आपने अब तक सुनी है, यह वाणी उससे बहुत कुछ मिलती-जुलती है ।

फिर भी यह सत्य है कि भारत की वाणी कुछ भिन्न है । यह पुराने यूरोप की वाणी नहीं है, बल्कि पुराने एशिया की वाणी है । वह एक प्राचीन सभ्यता की वाणी है जो असाधारण और शक्तिशाली है, जो कुछ नवीन हो गई और जिसने आपसे और पश्चिम से बहुत कुछ सीखा है । इसकी जड़ें सुदूरभूत में हैं; किन्तु उसमें आज की प्रेरणाएँ भी हैं ।

यह भिन्नता होने पर अमेरिका और भारत की वाणियों में बहुत कुछ मिला-जुलापन है। आपकी भाँति हमने भी अपनी स्वतन्त्रता एक क्रांति द्वारा प्राप्त की है, यद्यपि हमारे तरीके कुछ भिन्न हैं।

हमने राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली है, किन्तु हमारी क्रांति अभी पूरी नहीं हुई है। वह अभी चल रही है, क्योंकि ऐसी राजनैतिक स्वतन्त्रता से लोग संतुष्ट नहीं हो सकते, जिसमें जीवित रहने और सुख प्राप्त करने का आश्वासन नहीं। यह कार्य आर्थिक उन्नति से ही सम्भव है।

इसलिए हमारा मुख्य कार्य लोगों के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाना और राष्ट्र की आर्थिक उन्नति की बाधाएँ दूर करना है। हमने भारत की मुख्य समस्या—कृषि समस्या—हल कर ली है, जो एशिया की बड़ी समस्या है। हमारी भूमि अधिकार की प्रणाली में से जागीरदारी की प्रथा बदली जा रही है जिससे कृषि का फल सीधा किसान को मिल सके और जिस भूमि को वह जोतता है, यह उसके अधिकार में रह सके।

जिस देश में खेती एक प्रमुख उद्योग है, उसमें कृषि-सुधार एक मुख्य सुधार है। इसके बिना लोग संतुष्ट नहीं हो सकते और न समाज में स्थिरता आती है। संसार के कई भागों में और मुख्यतः एशिया में असंतोष का कारण पुरानी भूमि-प्रणाली है। इस असन्तोष का दूसरा कारण लोगों के रहन-सहन के दर्जे का नीचा होना है।

भारत संसार के कई अल्प विकसित देशों में औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित देश हैं। उसका स्थान औद्योगिक देशों में सातवाँ या आठवाँ है; किन्तु हमारे अधिकांश लोग फिर भी गरीब हैं। उनकी इस गरीबी को अधिक उत्पादन और

अधिक उचित वितरण से दूर करना, अच्छी शिक्षा और अच्छे स्वास्थ्य की व्यवस्था करना हमारी मुख्य समस्या है। हम इसे हल करने के लिए कृति-निश्चय हैं और यह अनुभव करते हैं कि हमें यह कार्य अपने बल-बूते पर ही करना है।

परन्तु भारत की आर्थिक क्षमताएँ कितनी भी विस्तृत क्यों न हों, उन्हें सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित करने के लिए मशीनों व यन्त्रों की बहुत बड़ी सहायता अपेक्षित है। हम पारस्परिक लाभ की शर्तों पर इस प्रकार की सहायता और सहयोग का स्वागत करेंगे। हमारी यह मान्यता है कि इससे विश्व-समस्याओं का वृहत् हल निकल आयेगा। हम मेहनत से प्राप्त की गई अपनी आजादी के किसी अंश की कीमत पर कोई भौतिक लाभ प्राप्त करना नहीं चाहते।

हमारी विदेशी नीति का लक्ष्य-विश्व शान्ति कायम रखना और मानव स्वातन्त्र्य की अभिवृद्धि करना है। दो दुखान्त महायुद्धों ने लड़ाई-भगड़े की निस्सारता प्रकट कर दी है। शांति की इच्छारहित विजय का स्थायी लाभ नहीं होता और पुराने घाव, जो गहरे और दुखदायी होते हैं, विजित और विजेता दोनों को कष्ट देते हैं। भविष्य का भय दोनों को बराबर ही रहता है। मैं यह बताना चाहता हूँ कि मैं आज की दुनिया के बारे में असत्य नहीं कह रहा हूँ। क्या यह दुखदायी हालत इसी प्रकार बनी रहे और विज्ञान और दौलत की शक्ति का उपयोग विनाश के लिए ही होता रहे? यह एक ऐसा सवाल है जिसका जवाब प्रत्येक देश को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा हो—देना होगा, और जितना भी बड़ा कोई देश होगा, सही उत्तर पाने की और उसके लिए मेहनत करने की जिम्मेदारी भी उतनी ही बड़ी होगी।

हो सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत नौसि-

खिया ही हो और इस युग के महान् शक्तिशाली देशों की तुलना में उसकी सैनिक शक्ति न कुछ के बराबर हो; परन्तु विचारों और अनुभव की दृष्टि से भारत बड़ा है। वह जीवन-संघर्ष में मार्गविहीन शताब्दियों से होकर गुजर चुका है। अपने सुदीर्घ इतिहास में भारत सदा शांति का पक्षपाती रहा है और भारत-वासी की प्रत्येक प्रार्थना की इति 'शांति' पाठ से होती है। इसी प्राचीन और फिर भी युवा भारत ने गांधी को जन्म दिया। उन्होंने हमें एक ऐसी कार्य-प्रणाली से परिचित कराया, जो शांतिपूर्ण होते हुए भी प्रभावशाली है और उसके फलस्वरूप हम न केवल स्वतन्त्र हुए; अपितु जिनसे हमारा कल तक झगड़ा था, वे हमारे मित्र बन गये।

हमारी विदेशी नीति का आधार और लक्ष्य यही है। हमने न तो वास्तविकता की ओर से आँखें मूँदी हैं और न हम मानव की स्वतन्त्रता को दी गई किसी चुनौती के सामने झुकने-वाले हैं—फिर वह चुनौती चाहे जिसने भी दी हो।

जहाँ स्वतन्त्रता को खतरा हो अथवा न्याय का गला घोंटा जा रहा हो, वहाँ हम न तो तटस्थ भाव बनाये रह सकते हैं और न रहेंगे। हम शांति में पूर्ण श्रद्धा देखना चाहते हैं। मुझे विश्वास है कि जीवन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, उसे अमेरिका समझेगा। हमारे दोनों देशों के बीच मैत्री और सहयोग स्वाभाविक है और मैं न्याय, स्वातंत्र्य और शांति की खोज में मैत्री और सहयोग का हाथ बढ़ाता हूँ।

२२—साइकिल की सवारी

श्री सुदर्शन

[सुदर्शनजी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ कहानीकार हैं। सन् १८६५ ई० में आपका जन्म पञ्जाब में हुआ। आपने बी० ए० तक उच्च शिक्षा प्राप्त की है। आपने पहले उर्दू में कहानी लिखना प्रारम्भ किया, तदुपरान्त हिन्दी में लिखकर उसके कथा-साहित्य की श्री-वृद्धि की। आपकी कहानियाँ प्रायः पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। 'पुष्पलता', 'सुदर्शन-सुधा' और 'तीर्थयात्रा' आदि इनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं। इसके अतिरिक्त 'भगवती' और 'परिवर्त्तन' नामक उपन्यास तथा 'अज्ञाना' नाटक, 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' प्रहसन इनकी अन्य कृतियाँ हैं। आपने सुन्दर एकाङ्की नाटकों की रचना भी की और फिल्म कम्पनियों द्वारा उपयुक्त साहित्य-निर्माण करना प्रारम्भ किया है।]

सुदर्शनजी पर प्रेमचन्दजी की कहानी-कला का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनकी कहानियों में समाज का बहुत ही सच्चा चित्रण हुआ है। सुदर्शन जी उर्दू के एक सफल लेखक रह चुके हैं, अतः आपकी भाषा और शैली पर उर्दू की अमिट छाप है। आपकी भाषा सरल, सुबोध एवं मुहाविरेदार है। उसमें उर्दू के प्रचलित और मँजे हुए शब्दों का बाहुल्य है। इनकी विभिन्न कहानियों की भाषा उन कहानियों के सर्वथा उपयुक्त है। व्यंग्य और हास्य ने इनकी कहानियों को और भी रोचक बना दिया है। इनका हास्य सदैव परिमार्जित तथा संयत होता है; उसमें भद्देपन का सर्वथा अभाव रहता है। इन गुणों के कारण हिन्दी-कहानीकारों में सुदर्शनजी का स्थान बहुत ऊँचा है।

'साइकिल की सवारी' कथानक, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण और भाषा आदि सभी दृष्टियों में उनकी एक अत्यन्त सफल रचना है।]

(१)

भगवान् ही जानता है कि जब मैं किसी को साइकिल की सवारी करते या हारमोनियम बजाते देखता हूँ तो मुझे अपने ऊपर कैसी दया आती है ! सोचता हूँ, भगवान् ने ये दोनों विद्याएँ भी खूब बनाई हैं । एक से समय बचता है, दूसरी से समय कटता है । मगर तमाशा देखिए, हमारे प्रारब्ध में कलियुग की ये दोनों विद्याएँ नहीं लिखी गई । न तो साइकिल चला सकते, न बाजा बजा सकते हैं । पता नहीं, कब से यह धारणा हमारे मन में बैठ गई है कि हम सब कुछ कर सकते हैं, मगर ये दोनों काम नहीं कर सकते ।

शायद १९३२ की बात है कि बैठे-बैठे ख्याल आया, चलो साइकिल चलाना सीख लें । और इसकी शुरुआत यों हुई कि हमारे लड़के ने चुपचुपाते में यह विद्या सीख ली, और हम, ई सामने से सवार होकर निकलने लगा । अब आपसे क्या कहें कि लज्जा और घृणा के कैसे-कैसे ख्याल मेरे मन में उठे । सोचा, क्या हमी जमाने भर में फिसड्डी रह गये हैं । सारी दुनिया चलाती है; जरा-जरा से लड़के चलाते हैं; मूर्ख और गँवार चलाते हैं, हम तो परमात्मा की कृपा से फिर भी पढ़े-लिखे हैं । क्या हमी नहीं चला सकेंगे ? आखिर इसमें मुश्किल क्या है ? कूदकर चढ़ गये और ताबड़-तोड़ पाँव मारने लगे । और जब देखा कि कोई राह में खड़ा है तब टन-टन करके घण्टी बजा दी । न हटा तो क्रोधपूर्ण आँखों से उसकी तरफ देखते हुए निकल गये । बस, यही तो सारा गुर है इस लोहे की सवारी का ! अब ऐसा मालूम हुआ कि हम 'बे-फजूल' ही मरे जाते थे । कुछ ही दिनों में सीख लेंगे । बस महाराज ! हमने निश्चय कर लिया कि चाहे जो हो जाय, परवा नहीं ।

दूसरे दिन हमने अपने फटे-पुराने कपड़े तलाश किये, और उन्हें ले जाकर श्रीमती के सामने पटक दिया कि इनकी जरा मरम्मत तो कर दो।

श्रीमतीजी ने हमारी तरफ अचरज भरी दृष्टि से देखा और कहा—“इन कपड़ों में अब जान ही कहाँ है, जो मरम्मत करूँ। इन्हें तो फेंक दिया था। आप कहाँ से उठा लाये ? वहीं जाकर डाल आइए।”

हमने मुस्कराकर श्रीमतीजी की तरफ देखा। मुँह से कहा—“तुम हर समय बहस न किया करो। आखिर मैं इन्हें ढूँढ़-ढाँढ़कर लाया हूँ तो ऐसे ही तो नहीं उठा लाया। कृपा करके इनकी मरम्मत कर डालो।”

मगर श्रीमतीजी बोलीं—“पहले बताओ, इनका क्या बनेगा ?”

हम चाहते थे, घर में किसी को कानों-कान खबर न हो, और हम साइकिल-सवार बन जायँ। और इसके बाद जब इस विद्या के पण्डित हो जायँ तब एक दिन जहाँगीर के मकबरे को जाने का निश्चय करें। घरवालों को ताँगे में बिठा दें, और कहें, तुम चलो, हम दूसरे ताँगे में आते हैं। और जब वे चले जायँ तब साइकिल पर सवार होकर उनको रास्ते में जा मिलें। हमें साइकिल पर सवार देखकर उन लोगों की क्या हालत होगी ! हैरान हो जायँगे; दङ्ग रह जायँगे, आँखें मल-मल कर देखेंगे कि कहीं कोई और तो नहीं है ! परन्तु हम गर्दन टेढ़ी करके दूसरी तरफ देखने लग जायँगे, जैसे हमें कुछ मालूम ही नहीं है, जैसे यह सवारी हमारे लिए साधारण बात है।

मगर श्रीमती ने कहा—“पहले बताओ, इनका क्या बनेगा ?” झुक मारकर बताना पड़ा कि रोज-रोज ताँगे का खर्च मारे डालता है। साइकिल चलाना सीखेंगे।

श्रीमतीजी ने बच्चे को सुलाते हुए हमारी तरफ देखा और मुस्करा कर बोली—“मुझे तो आशा नहीं कि आपसे यह बेल मड़ये चढ़ सके। खैर, यत्न कर देखिए। मगर इन कपड़ों का क्या बनेगा ?”

हमने जरा रोब से कहा—“आखिर बाइसिकिल से एक दो बार गिरेंगे या नहीं ? और गिरने से कपड़े फटेंगे या नहीं ? जो मूर्ख हैं वे नये कपड़ों का नुकसान कर बैठते हैं। जो बुद्धिमान हैं वे पुराने कपड़ों से काम चलाते हैं।”

मालूम होता है, हमारी इस युक्ति का जवाब हमारी स्त्री के पास कोई न था; क्योंकि उन्होंने उसी समय मशीन मँगवाकर उन कपड़ों की मरम्मत शुरू कर दी।

इधर हमने बाजार जाकर जम्बक के दो डिब्बे खरीद लिये कि चोट लगने पर उसका उसी समय इलाज किया जा सके। इसके बाद बाहर जाकर एक खुला मैदान तलाश किया, तार् दूसरे दिन से साइकिल-सवारी का काम शुरू हो जाय।

(२)

अब यह सवाल हमारे सामने था कि अपना उस्ताद किसे बनावें। इसी उधेड़-बुन में बैठे थे कि तिवारी लक्ष्मीनारायण आ गये और बोले—“क्यों भाई, हो जाय एक बाजी शतरंज की। जरा आवाज दो लड़के को। शतरंज और मुहरे उठा लावे।”

हमने सिर हिलाकर जवाब दिया—“नहीं साहब ! आज तो जी नहीं चाहता।”

तिवारी ने अपने घुटे हुए सिर से टोपी उतार कर हाथ में ले ली और सिर पर हाथ फेरकर बोले—“हम तो इतनी दूर से चल कर आये हैं कि एक-दो बाजियाँ खेलेंगे; तुमने कह दिया जी नहीं चाहता।”

“यदि जी न चाहे तो क्या करें ?” यह कहते-कहते हमारा गला भर आया। तिवारी जी का दिल पसीज गया। हमारे पास बैठकर बोले “अरे भाई, मामला क्या है ? स्त्री से झगड़ा तो नहीं हो गया ?”

हमने कहा—“तिवारी भैया, क्या कहें ? सोचा था, लाओ, साइकिल की सवारी सीख लें। मगर अब कोई ऐसा आदमी नहीं दिखाई देता जो हमारी सहायता करे। बताओ, है कोई ऐसा आदमी तुम्हारे ख्याल में।”

तिवारीजी ने हमारी तरफ बेबसी की आँखों से ऐसा देखा मानो हमको कोई खजाना मिल रहा है, और वे खाली हाथ रहे जाते हैं। बोले—“मेरी मानो तो यह रोग न पालो। अब इस आयु में साइकिल पर चढ़ोगे ? और फिर यह भी कोई सवारियों में सवारी है कि डण्डे पर उकड़ूँ बैठे हैं, और पाँव चला रहे हैं। अजी लानत भेजो इस ख्याल पर, और आओ एक बाजी खेलो।”

मगर हमने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली थीं। साफ समझ गये कि तिवारी ईर्ष्या की आग में फुका जाता है। मुँह फुलाकर हमने कहा—“भाई तिवारी, हम तो ज़रूर सीखेंगे। कोई आदमी बताओ।”

“आदमी तो ऐसा है एक; मगर वह मुफ्त नहीं सिखायेगा। फीस लेगा। दे सकोगे ?”

“कितने दिन में सिखा देगा ?”

“यही दस-बारह दिन में !”

“और फीस क्या लेगा हमसे ?”

“औरों से पचीस लेता है। तुमसे बीस ले लेगा, हमारी खातिर !”

हमने सोचा—दस दिन में सिखाएगा, और बीस रुपये फीस लेगा। दस दिन—बीस रुपये। बीस रुपये—दस दिन। अर्थात् दो रुपये रोजाना, अर्थात् साठ रुपये महीना और वह भी एक दो घण्टों के लिए। ऐसी तीन चार ड्यूटियाँ मिल जायँ तो ढाई-तीन सौ रुपया महीना हो गया। हमने तिवारीजी से तो इतना ही कहा कि जाकर मामला तय कर आओ, मगर जी में खुश हो रहे थे कि साइकिल चलाना आ जाय, तो एक ट्रेनिंग स्कूल खोल दें, और तीन-चार सौ रुपये मासिक कमाने लगें।

उधर तिवारीजी मामला तय करने गये, इधर हमने यह शुभ समाचार जाकर श्रीमती जी को सुना दिया कि कुछ दिनों के बाद हम एक ऐसा स्कूल खोलनेवाले हैं जिसमें तीन-चार सौ रुपये महीने की आमदनी होगी।

श्रीमतीजी बोलीं—“तुम्हारी इतनी आयु हो गई, मगर ओछापन न गया। पहले आप तो सीख लो, फिर स्कूल खोल लेना। मैं तो समझती हूँ कि तुम सीख ही न सकोगे, दूसरों का सिखाना तो दूर की बात है।”

हमने बिगड़कर कहा—“यह तुममें बड़ी बुरी आदत है कि हर काम में टोक देती हो। हमसे बड़े-बड़े सीख रहे हैं तो हम क्या न सीख सकेंगे? और पहले तो शायद सीखते, शायद न सीखते, मगर अब जब तुमने टोका है तब जरूर सीखेंगे। तुम भी क्या कहोगी।”

श्रीमतीजी बोलीं—“मैं तो चाहती हूँ तुम हवाई जहाज चलाओ, यह बाइसिकिल क्या चीज है? पर तुम्हारे स्वभाव से डर लगता है। एक बार गिरोगे तो देख लेना, बाइसिकिल वहीं फेंक-फाँककर चले आओगे!”

इतने में तिवारी जी ने बाहर से आवाज दी। हमने जाकर देखा तो उस्ताद साहब खड़े थे। हमने शरीफ विद्यार्थियों के

समान श्रद्धा से हाथ बाँधकर प्रणाम किया, और चुपचाप खड़े हो गये।

तिवारीजी—“यह तो बीस पर मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से मनाया है। पर पेशगी लेंगे। कहते हैं, पीछे कोई नहीं देता।”

हम—“अरे भाई, हम देंगे। दुनिया लाख बुरी है, मगर फिर भी भले आदमियों से खाली तो नहीं है। यह बीस रुपया तो चीज ही क्या है? हम अपना धर्म लाखों के लिए भी न गँवावेंगे। बस, एक बार हमें साइकिल चलाना सिखा दें, फिर देखें, हम इनकी क्या-क्या सेवा करते हैं।”

मगर उस्ताद साहब नहीं माने, बोले—“फीस पहले लेंगे।”

हम—“और यदि आपने नहीं सिखाया तो?”

उस्ताद—“नहीं सिखाया तो फीस लौटा देंगे।”

हम—“और यदि फीस नहीं लौटाई तो?”

उस्ताद—“अब इस ‘तो’ का जवाब तो मेरे पास है नहीं, मगर इतना कह सकता हूँ कि ऐसी बेईमानियाँ मुझे बदनाम न कर देंगी।”

इस पर तिवारीजी ने कहा—“अरे साहब! क्या यह तिवारी मर गया है? शहर में रहना हaram कर दूँ, बाजार में निकलना बन्द कर दूँ। फीस लेकर भाग जाना कोई हँसी-खेल है!”

जब हमें विश्वास हो गया कि इसमें कोई धोखा नहीं है तब हमने फीस के रुपये लाकर उस्ताद की भेंट कर दिये और कहा—“उस्ताद, कल सबेरे-सबेरे ही आ जाना। हम तैयार रहेंगे। हमने इस काम के लिए कपड़े भी बनवा लिये हैं। और अगर गिर पड़े तो घाव पर लगाने के लिए जम्बक भी खरीद लिया है। और हाँ, हमारे पड़ोस में जो मिस्त्री रहता है उससे

साइकिल भी माँग ली है। आप सबेरे ही चले आवें तो हरि का नाम लेकर शुरू कर दें।”

तिवारीजी और उस्ताद मे हमें हर तरह से तसल्ली दी, और चले गये। इतने में हमें याद आया कि एक बात कहनी भूल गये। नङ्गे पाँव भागे, और उन्हें बाजार में जा लिया। वे हैरान थे। हमने हाँफते-हाँफते कहा—“उस्ताद, हम शहर के पास नहीं सीखेंगे, लारेंस-बाग में जो मैदान है, वहाँ सीखेंगे। वहाँ एक तो भूमि नर्म है, चोट कम लगती है; दूसरे वहाँ कोई देखता नहीं है।”

(३)

अब रात को आराम की नींद कहाँ? बार-बार चौकते थे और देखते थे कि कहीं सूरज तो नहीं निकल आया। सोते थे तो साइकिल के सपने आते थे। एक बार देखा कि हम साइकिल से गिरकर जखमी हो गये हैं। दूसरी बार देखा कि हम साइकिल पर सवार हैं, साइकिल आपसे आप हवा में चल रही है और लोग हमारी तरफ आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे हैं।

जब आँखें खुलीं तो दिन निकल आया था। जल्दी से जाकर वे पुराने कपड़े पहन लिये; जम्बक का डिब्बा हाथ में ले लिया और नौकर को भेजकर मिस्त्री से साइकिल मँगवा ली। इसी समय उस्ताद साहब भी आ गये और हम भगवान् का नाम लेकर लारेंस-बाग की ओर चले। लेकिन अभी घर से निकले ही थे कि बिल्ली रास्ता काट गई, और एक लड़के ने छींक दिया। क्या कहें, हमें कैसा क्रोध आया, उस नामुराद बिल्ली पर और उस शैतान लड़के पर! मगर क्या करते? दाँत पीसकर रह गये! एक बार फिर भगवान् का पावन नाम लिया, और आगे बढ़े। पर बाजार में पहुँचकर देखा कि हर

आदमी जो हमारी तरफ देखता है, मुस्कराता है। अब हम हैरान थे कि बात क्या है ! सहसा हमने देखा कि जल्दी और घबराहट में हमने पाजामा और अचकन दोनों उलटे पहन लिये हैं, और लोग इसी पर हँस रहे हैं। सिर मुँड़ाते ही ओले पड़े।

हमने उस्ताद से माफी माँगी और घर लौट आये अर्थात् हमारा पहला दिन मुफ्त में गया।

दूसरे दिन निकले। हमारे घर के पास जो लाला साहब रहते हैं, वे सामने आ गये और मुस्कराकर बोले—“कहिए, कहाँ जा रहे हैं ?”

ये लाला साहब यों तो बहुत भले आदमी हैं, लेकिन इनकी एक आदत बहुत बुरी है। जिससे मिलते हैं उसी से पूछते हैं, “कहाँ चले ?” कई बार समझाया कि जब कोई काम पर निकले और उससे ‘कहाँ’ पूछा जाय तो वह काम कभी नहीं होता और जिसका काम बिगड़ जाता है वह ‘कहाँ’ पूछनेवाले को गालियाँ देता है। मगर लाला साहब पर जरा असर नहीं होता। इस समय हमने उनसे बचने का कितना यत्न किया, किस-किस तरफ मुँह मोड़ा, मगर उनकी “कहाँ” की तोप से कौन बच सकता है ? महात्माजी ने सामने आकर गोला दाग ही तो दिया।

हमने जल-भुनकर जवाब दिया—“नरक को जा रहे हैं। आप भी चलेंगे क्या ?”

लाला—“भगवान् जानता है, मुझे मालूम न था कि आप किसी काम के लिए जा रहे हैं।”

हम—“मानो हम बेकार घूमा करते हैं।”

लाला—“अजी जनाब ! आप भी क्या बातें करते हैं ? मैं आपकी शान में ऐसी गुस्ताखी कर सकता हूँ ? मेरा मतलब यह था—”

हम—“कि इनसे ‘कहाँ’ न पूछा तो प्रलय हो जायगी। जरा सोचिए, आपसे कितनी बार हमने निवेदन किया है कि हमें इस ‘कहाँ’ से डर लगता है। मगर आपको यह ऐसा रोग लगा है कि पीछा ही नहीं छोड़ता। आज ही साइकिल चलाना सीखने जा रहे थे। यह देखिए, पुराने कपड़े और जम्बक का डिब्बा और ये उस्ताद साहब और यह साइकिल, लेकिन इस ‘कहाँ’ ने आज का दिन भी खराब कर दिया। आपने तो मुस्करा कर पूछ लिया—‘कहाँ’ हमारा दो रुपये का नुकसान हो गया।”

उधर उस्ताद साहब ने साइकिल की घण्टी बजाकर हमें अपने पास बुलाया और बोले “मैं एक गिलास लस्सी पी लूँ। आप जरा साइकिल को थामिए।”

लाला साहब ने जब यह अवसर पाया तो प्राण लेकर भाग निकले; वरना हम उनसे उस दिन कागज लिखा लेते कि अब फिर किसी से ‘कहाँ’ नहीं पूछेंगे।

(४)

उस्ताद साहब लस्सी पीने लगे तब हमने साइकिल के पुर्जों की ऊपर-नीचे से परीक्षा शुरू कर दी और लालाजी से जो बद-मगजी हो गई थी उसे मिटाने के लिए मुँह में गुनगुनाने लगे।

फिर कुछ जी में आया तब उसका हँडल पकड़कर जरा चलने लगे। मगर दो ही कदम गये होंगे कि ऐसा मालूम हुआ, जैसे साइकिल हमारे सीने पर चढ़ी आती है। अब तो हमें पूरा विश्वास हो गया कि यह सब लालाजी के ‘कहाँ’ का प्रभाव है।

इस समय हमारे सामने यह गम्भीर प्रश्न था कि क्या करना चाहिए—युद्ध-क्षेत्र में डटे रहें या हट जायँ? सोच-विचार के बाद यही निश्चय हुआ कि यह लोहे का घोड़ा और फिर लालाजी का ‘कहाँ’ इसके साथ! इनके सामने हम क्या चीज

हैं ? बड़े-बड़े वीर योद्धा भी नहीं ठहर सकते । इसलिए हमने साइकिल छोड़ दी, और भगोड़े सिपाही बनकर मुड़ गये । पर दूसरे क्षण में साइकिल अपने पूरे जोर से हमारे पाँव पर गिर गई और हमारी रामदुहाई बाजार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक गूँजने लगी । उस्तादजी लस्सी छोड़कर दौड़ आये । और दयावान् लोग भी जमा हो गये । सबने मिल-मिलाकर हमारा पाँव साइकिल से निकाला । भगवान् के एक भक्त ने जम्बक का डिब्बा भी उठाकर हमारे हाथ में दे दिया । दूसरे ने हमारी बगलों में एक हाथ डालकर हमें संभाला और सहानुभूति से पूछा—“चोट तो नहीं आई ? जरा दो-चार कदम चलिए, नहीं तो लहू जम जायगा ।”

इस तरह दूसरे दिन हम और हमारी साइकिल अपने घर से थोड़ी दूर पर जखमी हो गये । हम लँगड़ाते हुए घर लौट आये, साइकिल ठोक-पीटकर ठीक करने के लिए मिछी की दुकान पर भेज दी ।

मगर हमारे वीर हृदय का साहस और धीरज देखिए—अब भी मैदान में डटे रहे । कई बार गिरे, कई बार शहीद हुए । घुटने तुड़वाये, कपड़े फड़वाये, पर क्या मजाल, जो जी छूट जाय । आठ-नौ दिन में साइकिल चलाना सीख गये । लेकिन अभी तक उस पर चढ़ना नहीं आता था । कोई परोपकारी पुरुष सहारा देकर चढ़ा देता तो फिर लिये चले जाते थे । हमारे आनन्द की कोई सीमा न थी । ये सोचते, मार लिया मैदान हमने ! दो-चार दिन में पूरे मास्टर बन जायँगे, इसके बाद प्रोफेसर और इसके बाद प्रिंसिपल—फिर ट्रेनिङ्ग कालेज, और तीन चार सौ रुपया मासिक । तिवारीजी देखेंगे और ईर्ष्या से जलेंगे ।

उस दिन उस्ताद ने हमें साइकिल पर चढ़ा दिया और सड़क पर छोड़ दिया कि ले जाओ, अब तुम सीख गये।

अब हम साइकिल चला रहे थे, और दिल ही दिल फूले न समाते थे। मगर हाल यह था कि कोई आदमी दो सौ गज के फासिले पर भी होता तो हम गला फाड़-फाड़कर चिल्लाना शुरू कर देते—साहब ! जरा बाईं तरफ हट जाइएगा। दूर फासिले पर कोई गाड़ी दिखाई देती तो हमारे प्राण सूख जाते। उस समय हमारे मन की जो दशा होती उसे परमेश्वर ही जानता है। जब गाड़ी निकल जाती तब कहीं जाकर हमारी जान में जान आती।

सहसा सामने से तिवारीजी आते दिखाई दिये। हमने उन्हें भी दूर से ही अल्टीमेटम दे दिया कि तिवारीजी, बाईं तरफ हो जाओ, वरना साइकिल तुम्हारे ऊपर चढ़ा देंगे। तुमसे बड़ा मूजी और कौन मिलेगा ?

तिवारीजी ने अपनी छोटी-छोटी आँखों से हमारी तरफ देखा और मुस्कराकर कहा—“जरा एक बात तो सुनते जाओ।”

हमने एक बार हेंडल की तरफ, दूसरी बार तिवारीजी की तरफ देखकर जवाब दिया—“इस समय कैसे बात सुन सकते हैं ? देखते नहीं हो, साइकिल पर सवार हूँ।”

तिवारीजी—“तो क्या जो साइकिल चलाते हैं वे किसी की बात नहीं सुनते ? बड़ी जरूरी बात है, जरा उतर आओ।”

हमने लड़खड़ाती हुई साइकिल को संभालते हुए जवाब दिया—“उतर आये तो फिर चढ़ायेगा कौन ? अभी चलाना सीखा है, चढ़ना नहीं सीखा।”

तिवारीजी चिल्लाते ही रह गये, हम आगे निकल गये।

इतने में सामने से ताँगा आता नजर पड़ा। हमने उसे भी

दूर से ही डाँट दिया—“बाई तरफ भाई ! अभी नये चलानेवाले हैं ।”

ताँगा बाई तरफ हो गया । हम अपने रास्ते चले जा रहे थे । एकाएक पता नहीं, घोड़ा भड़क उठा या ताँगेवाले को शरारत सूझी, जो भी हो, ताँगा हमारे सामने आ गया । हमारे हाथ-पाँव फूल गये । जरा सा हैडल घुमा देते तो हम दूसरी तरफ निकल जाते । मगर बुरा समय आता है तब बुद्धि पहले भ्रष्ट हो जाती है । उस समय हमें ख्याल ही न आया कि हैडल घुमाया भी जा सकता है । फिर क्या था, हम और हमारी साइकिल दोनों ही ताँगे के नीचे आ गये और हम बेहोश हो गये ।

जब हम होश में आये तब हम अपने घर में थे, और हमारी देह पर कितनी ही पट्टियाँ बँधी थीं । हमें होश में देखकर श्रीमतीजी ने कहा—“क्यों, अब क्या हाल है ? मैं कहती न थी, साइकिल चलाना न सीखो । उस समय तो किसी की सुनते ही न थे ।”

हमने सोचा, लाओ सारा इलजाम तिवारीजी पर लगा दें, और आप साफ बच जायँ । बोले—“यह सब तिवारीजी की शरारत है ।”

श्रीमतीजी ने मुस्कराकर जवाब दिया—“यह तो तुम उसको चकमा दो जो कुछ जानता न हो । उस ताँगे पर मैं ही तो बच्चों को लेकर घूमने निकली थी कि चलो सैर भी कर आयेंगे और तुम्हें साइकिल चलाते भी देख आयेंगे ।”

मैंने निरुत्तर होकर आँखें बन्द कर लीं ।

उस दिन के बाद फिर कभी मैंने साइकिल को हाथ नहीं लगाया ।

